रंग संवाद

जुलाई-दिसम्बर 2011 (संयुक्तांक)

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
त्रैमासिक संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, **25**-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

अनुक्रम

शिविरों में बँटी संस्कृति - हबीब तनवीर / 5
पाठ्य माध्यम का पक्ष - शंभूनाथ / 9
प्रसाद के नाटक (नाट्याभ्यास का एक और रूप) - महेश आनंद / 11
महाभारत के झरोखे से (रपट) / 19
कहाँ गया शब्द का हस्तक्षेप - पुष्पा भारती / 22
अब न रहे वे आल्हा गायक - श्यामसुन्दर दुबे / 25
रंगे हुए चेहरों की नेपथ्य कथा - राजेश जोशी / 27
सम्मोहन अभिनय और वाणी का
रंगकर्मी - अभिनेता टॉम आल्टर से ममता तिवारी का संवाद / 29
कविता की स्मृति को रचना चुनौतीपूर्ण - अलखनंदन / 35
हर नाटक के साथ जुड़ा होता है एक सवाल : ऊषा गांगुली - डॉ. कमल कुमार / 37
लोक और शास्त्र की संधि - उदयन वाजपेयी / 39
सीरत से भरा ख़ूबसूरत इंसान - प्रेमशंकर रघुवंशी / 41
उतनी बुरी नहीं है दुनिया - विनय उपाध्याय / 43
आपादमस्तक लेखक थे अश्कजी - विजय बहादुर सिंह / 44
कहाँ तुम चले गए... - एस. सहाय / 46
नायाब थे सारंगी के 'सुल्तान' - 48
विराट को पुकारता गायक - जयदीप कर्णिक / 49
अनंत यात्रा पर निकला 'गाइड' - धीरेन्द्र / 50
नौटंकी का नायक - सुनील मिश्र / 51
खुशियों का थिएटर - आशीष कुमार अंशु / 52
सच्चिदानंद जोशी की कविताएँ / 54
परंपरा से समझौता नहीं : सविता देवी - एस. सहाय रंजीत / 56
परख : यूँ ही उलझती रही हैं ज़ुल्म से खलक - अरुण पाण्डेय / 57
रपट : अछूते कोनों की पड़ताल - वसुधा सहस्त्रबुद्धे / 58
चुनौती : नाटक का अध्यापन - रमिता गुरब / 59
धरोहर हैं उस्ताद की यादें : ध्रुपद गुरू ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर से संवाद / 82
सृजन के आसपास / 60
पाठक संवाद (चिट्ठियाँ) / 84

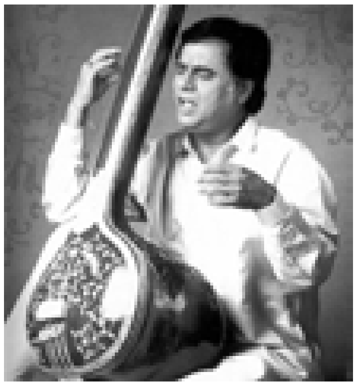
जगजीत सिंह

स्मृति शेष

इंदिरा गोस्वामी

श्रीलाल शुक्ल

देवानंद

सुल्तान खाँ

भूपेन हजारिका

पं. सिद्धेश्वर

रहीम फ़हीमुद्दीन डागर

आकल्पन : विनय उपाध्याय ● **मुख्य आवरण चित्र** : प्रवीण दीक्षित ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव
भीतर के छायाचित्र : कमलेश जैमिनी, सौरभ अग्रवाल, निर्मल व्यास, नीरज रिछारिया, प्रवीण दीक्षित तथा विजय रोहतगी
सहयोग : मोहन सगोरिया, एकता गोस्वामी, हेमंत देवलेकर, अमीन शेख और वसंत सकरगाए

हम बच्चों के लिये क्यों नहीं लिखते?

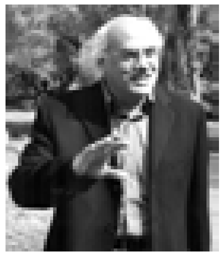

पिछले दिनों सृजन पीठ ने बच्चों के साथ एक वृहद् रंग प्रसंग का आयोजन किया। इस आयोजन और इसके प्रदर्शन के दौरान जो विचार मेरे मन में आये उन्हें आपके साथ साझा करना चाहता हूँ।

लगभग सौ बच्चों के साथ आयोजित इस प्रसंग में सभी बच्चे भोपाल के एक प्रसिद्ध अंग्रेजी माध्यम के स्कूल से आये थे। उनके शिक्षक भी अंग्रेजी बोलने वाले, अंग्रेजी से प्यार करने वाले और उसका प्रसार करने वाले मिशनरी शिक्षक थे। बच्चे और उनके माता-पिता मध्य वर्ग के सामान्य इच्छाओं और आकांक्षाओं से भरे, आम भारतीय थे जिनके बारे में आमतौर पर समझा जाता है कि उनकी हिन्दी-विंदी में कोई रुचि नहीं है, कि कविता के तो वे पास भी नहीं फटकना चाहते, कि वे कम्प्यूटर और मोबाईल में उलझे रहने वाले आधुनिक भारतीय हैं।

पर हमारा अनुभव इस आम विचार के बिल्कुल विपरीत था। इस प्रदर्शन के लिये जिन कविताओं का चयन किया गया वे सभी हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों की, बच्चों के लिये लिखी गई रचनायें थीं जिन्हें या तो हमने-भुला दिया है या हाशिये पर डाल दिया है। पिछले पचास वर्ष की ऐसी छत्तीस रचनाओं में से सत्रह कविताओं का चयन हमने इस प्रदर्शन के लिये किया। पहले उनकी धुनें तैयार की गईं, फिर एक कार्यशाला आयोजित कर बच्चों के माध्यम से ही उन्हें गवाया गया, आईसेक्ट स्टूडियो ने उन्हें रिकॉर्ड किया और उसके बाद लगभग सौ स्कूली छात्रों के साथ उनका मंचन किया गया. भोपाल का रवींद्र भवन सभागार, जिसकी क्षमता करीब आठ सौ दर्शकों की है, प्रदर्शन के दौरान खचाखच भरा था, शहर के रचनाकार एवं कलाकार बड़ी संख्या में उपस्थित थे, पूरे कार्यक्रम से एक अद्‌भुत ऊर्जा और रंग-उल्लास का विकिरण हो रहा था (जिसे शायद रचनात्मक प्रसन्नता भी कहा जा सकता है) और जैसा कि श्री रमेशचंद्र शाह और श्री राजेश जोशी ने कहा, ऐसी अद्‌भुत प्रस्तुति उन्होंने इसके पहले कभी नहीं देखी। इससे भी बड़ी बात ये कि अंग्रेजी माध्यम स्कूल के उन सभी बच्चों ने इन हिन्दी कविताओं को बहुत पसंद किया, उन्हें याद कर लिया, उन्हें गाने-गुनगुनाने लगे, उनकी कॉम्पैक्ट डिस्क अपने घर ले गये और अपने माता-पिता को भी उन्हें सुनने को प्रेरित किया। जिन अभिभावकों से मेरी मुलाकात हुई उन सभी ने कहा कि ऐसे कार्यक्रम और आयोजित होने चाहिये।

आखिर इस कार्यक्रम की ताकत क्या थी जिसने सबको अभिभूत कर लिया? तमाम फूहड़ रियलिटी शोज़ की आपाधापी और प्रतिस्पर्धा के बीच वह क्या था जिसने बच्चों को और उनके अभिभावकों को आकर्षित किया और उनमें एक अद्‌भुत ऊर्जा का संचार किया? मुझे लगता है कि वह थी उन सबके अवचेतन में छुपी अपनी भाषाई चेतना और कविता की ताकत जिसने सबको भीतर से छुआ। स्कूल का दबाव, और यहाँ मुझे किसी का भी अपमान न करने की मंशा के साथ कहने दें कि, हमारी शालाओं का नकलीपन हट जाने से बच्चे जो स्वतंत्रता महसूस करते हैं, जो स्वाभाविकता महसूस करते हैं, उसने उन्हें आनंद और उत्साह से भर दिया। क्या शिक्षा और कला का उद्देश्य यही नहीं होना चाहिये?

असल में हम भूल जाते हैं कि बच्चा एक स्वतंत्र इकाई है और उसे सबसे प्यारी होती है अपनी स्वतंत्रता। मिट्टी, हवा, पानी, रेत, सूरज, चंद्रमा, पेड़ पौधे, पक्षी और इस तरह प्रकृति उसके सबसे निकट होते हैं, वह इनके निकट रहना चाहता है। वह स्वतंत्र और समग्र रहना चाहता है पर स्कूल की चहार दीवारी और अनुशासन में अपने आपको घुटा-घुटा महसूस करता है। 'खेल' उसके लिये खुद को अभिव्यक्त करने का प्रिय माध्यम है और वह प्रारंभ में खेल-खेल में ही जीवन के बारे में सीखता है। पर हम उसके जीवन को पीरियड्स में बांट देना चाहते हैं, पहले एक अस्वाभाविक वातावरण, फिर एक अस्वाभाविक भाषा और फिर एक अस्वाभाविक ज्ञान और इसके बावजूद भी हम उससे सामान्य रूप से पल्लवित होने की आकांक्षा रखते हैं।

अब ज़रा उन कविताओं और कवियों पर नज़र डालें जिनका चयन इस रंग प्रदर्शन के लिये किया गया। सर्वेश्वर की कविता 'आओ एक बनायें चक्कर' खेल से ही शुरु होती है और खेल पर ही खत्म। वह एक ऐसा खेल है जिसे बच्चे रोज अपने घर में खेलते हैं और चूहे-बिल्ली जैसे जानवर बड़ी स्वाभाविकता के साथ उस खेल में शामिल होते हैं। धर्मपाल शास्त्री की कविता 'घर के पीछे, छत के नीचे/पांव पसारे, पूंछ सवारे/देखो कोई, मौसी सोई/नासों में से, सांसों में से/घर घर घर घर हो रही है/चूहों, म्याऊँ सो रही है' ध्वनियों और आवृत्तियों का एक अद्‌भुत संसार रचती है, श्रीनाथ सिंह की कविता 'पूछूं तुमसे एक सवाल' बच्चों की लगातार सवाल पूछने की प्रवृत्ति को रेखांकित करती है और ज़रूरी नहीं कि ये सवाल वयस्कों द्वारा 'स्वीकृत' सवाल ही हों। पूछा जा सकता है कि 'भालू के क्यों इतने बाल/चले सांप क्यों तिरछी चाल/नारंगी क्यों होती लाल/घोड़े के क्यों लगती नाल/झरना क्यों बहता दिन रात/जाड़े में क्यों कांपे गात', और ये पूछने पर किसी का अपमान नहीं होगा, न कोई गुस्सा होगा।

बच्चों के लिये लिखी कविताओं या उनकी रचनात्मकता का एक महत्वपूर्ण आयाम उनका 'नॉनसेंसिकल' या अर्थहीन किन्तु ध्वन्यात्मक होना है। हिन्दी में बहुत कम 'नॉनसेंस राइम्स' मिलती हैं। कुछ पारंपरिक रूप से चली आती हैं, कुछ नई लिखी

गई हैं। हम सबने 'अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो' खेला है, जिसमें से चोर निकल कर भागता था। निरंकार देव 'सेवक' ने कुछ बहुत अच्छी 'राइम्स' लिखी हैं। 'टेसू राजा बीच बाजार' उनकी ऐसी ही एक रचना है। इसका मजा लेने के लिये आपको इसे पूरा पढ़ना होगा। पहेलियाँ भी बच्चों की कविता का एक सुंदर फॉर्म है जिसे रमापति शुक्ल ने 'कंघी के हैं दांत मगर वह चबा नहीं सकती खाना / गला सुराही का है पतला किन्तु न गा सकती गाना' जैसी अटपटी बानी के साथ 'आलपीन के सिर होता है' नामक कविता में प्रस्तुत किया।

प्रकृति के साथ खेलना, उसमें नई-नई छवियाँ गढ़ना, कल्पना के घोड़े पर सैर करना बच्चों को सबसे ज्यादा प्रिय है। 'गोलू के मामा आये' रमेश चंद्र शाह की एक अद्‌भुत कविता है जिसमें चंद्रमा के साथ खेल भी है, ध्वन्यात्मकता भी है, चंचलता भी है और एक तरह की 'नॉनसेंसिकल' राइम भी है जो उसे अद्‌भुत आभा से भर देती है। इसी तरह राजेश जोशी की कविता 'बादल आये, बादल आये' में बारिश का उल्लास और परंपरा की प्रतिध्वनि दोनों ही मौजूद हैं।

बच्चों और घर के बुजुर्गों के बीच बढ़ती खाई और उससे उपजे विषाद को नवीन सागर ने अपने गीत 'दादाजी नाराज हैं' में बड़ी ही गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। मैंने कई अभिभावकों और श्रोताओं को इस गीत को सुनकर विव्हल होते हुये देखा। इसी तरह बच्चों के बीच समयहीनता की व्याप्ति को नवीन सागर का ही दूसरा गीत 'डगमग करते मुन्ने निकले/पहुंचे टुन्ने के घर, टुन्ने हरसे' बहुत खूबसूरती के साथ व्यक्त करता है।

श्रीप्रसाद का गीत 'हल्लम हल्लम हौदा, हाथी चल्लम चल्लम' तथा निरंकार देव 'सेवक' का दृश्यचित्र 'क्या सज धज कर चली बरात' ध्वनियों और रंगों का अद्‌भुत खेल रचते हैं। सर्वेश्वर 'अगर कहीं मिलती बंदूक, उसको मैं करता दो टूक' में हिंसक खेलों और खिलौनों के खिलाफ एक प्रतिसंसार रचते हैं तथा 'नई साइकिल गोलू लाया' में श्याम बहादुर 'नम्र' बच्चों के जीवन में एक स्वाभाविक उल्लास की वापसी करते हैं।

कुल मिलाकर देखें तो ये सारी कवितायें बच्चों की स्वतंत्रता, उनकी समग्रता, प्रकृति के साथ उनके तादात्म्य, खेल और कल्पना के उनके संसार, प्रश्न पूछने और अर्थहीन से दिखने वाले अर्थपूर्ण प्रश्न पूछने के उनके अधिकार की पैरवी करती हैं और इस तरह उस नकलीपन के बंधन से मुक्त करती हैं जिसमें हम उन्हें धकेलना चाहते हैं। याद करिये कि बच्चों के बचपन की गुल्लक में ढेरों कहानियाँ, कवितायें, गीत, संगीत, पहेलियाँ और दादी-नानी के किस्से हुआ करते थे। अचानक क्या हुआ कि उनकी ये गुल्लक खाली हो गई? और इसके खाली होने ने क्या बच्चों के बचपन को खाली नहीं कर दिया? ये कैसी भयानक विपन्नता है?

टेरी इगल्टन अपनी किताब 'हाऊ टु रीड अ पोयम' में एक बहुत पते की बात कहते हैं। उनका कहना है कि आज के समय में जो एक सबसे बड़ा नुकसान हमें हुआ है वह है हमारी अनुभव क्षमता का कम हो जाना या उसका गायब हो जाना। उनका मानना है कि इसके पीछे सबसे बड़ा कारण अपनी परंपरा से हमारा कट जाना है। परंपरा, जो किस्से, कहानियों के माध्यम से, पारंपरिक गीतों के माध्यम से, पारंपरिक कलारूपों के माध्यम से हम तक पहुंचती थी और दिल में सपाटपन के बदले ऐसी दरारें पैदा करती थी जिसके आधार पर हम अनुभव कर सकने की अपनी क्षमता अर्जित करते थे। मुझे लगता है कि बच्चों के जीवन में इन किस्से कहानियों का लौटना बहुत जरूरी है।

तो इन्हें लौटायेगा कौन? बच्चों के लिये लिखना, बच्चों के साथ लिखना तो हमारी प्राथमिकता में शामिल ही नहीं। निरंकार देव 'सेवक', श्रीनाथ सिंह, श्री प्रसाद और श्याम बहादुर 'नम्र' जैसे लेखक हमारी प्रतिष्ठा सूची में भी नहीं आते। इसके बावजूद भी इसकी ज़रूरत को कम करके नहीं आंका जा सकता। आइये बिना बोझिल हुये, बच्चों के साथ उनकी भाषा में, एक नये संवाद की शुरुआत करें।

●

'रंग संवाद' का यह अंक भी अपनी भरी पूरी रचनाशीलता के साथ उपस्थित है। शुरुआत प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर के आलेख से की गई है जो अपनी सांस्कृतिक परंपरा, अपनी भाषा और पारंपरिक कलारूपों से जुड़ने की बात कर रहे हैं। 'क्लासिक' विमर्श के रूप में महेश आनंद का लेख 'प्रसाद के नाटक' शामिल किया गया है। राजेश जोशी ने 'रंग विदूषक' की रंग यात्रा के बारे में बात की है तो वर्षा दास 'महाभारत के झरोखे से' रंग कर्म कोदेख रही हैं।

साक्षात्कार के रूप में प्रख्यात अभिनेता 'टॉम आल्टर' से ममता तिवारी का संवाद प्रस्तुत है। दिवंगत रचनाकारों, श्रीलाल शुक्ल, इंदिरा गोस्वामी, देवानंद, सुल्तान खाँ, भूपेन हजारिका एवं पं. सिद्धेश्वर की भाव भीनी यादें भी इस अंक में हैं। विभिन्न आयोजनों तथा नाट्य उत्सवों की रिपोर्ट तथा 'पाठक संवाद' पूरे उपक्रम को और भी समृद्ध बनाते हैं।

सदा की तरह अपनी प्रतिक्रिया अवश्य भेजें।

नव वर्ष की शुभकामनाओं के साथ,

संतोष चौबे

लोकधर्मी सांस्कृतिक चेतना को अपनी रंग-अभिव्यक्ति का ज़रूरी हिस्सा बनाकर हबीब तनवीर ने जिस तरह जगत व्यापी प्रतिष्ठा का अर्जन किया उसकी बुनियाद में दरअसल भारतीय समाज, उसके निजी सरोकार, उसके जीवन पर पड़ी अपनी जड़-ज़मीनी छापें और आधुनिक आग्रहों से जूझती उसकी हैसियतों से जुड़े कुछ ज्वलंत सवाल रहे हैं। समय-समय पर हबीबजी ने अपनी चिंताओं को कई विमर्शों-बहसों से साझा किया। 'रंग संवाद' के इस अंक में स्मृति और आदर के साथ हबीबजी की इस 'लोकवार्ता' को विशेष रूप से शामिल किया जा रहा है। यह आलेख हमें म.प्र. आदिवासी लोक कला अकादेमी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। *-संपादक*

शिविरों में बँटी संस्कृति

हबीब तनवीर

दीपाली मुंदड़ा

जब हम सामाजिक विकास की प्रक्रिया में लोकवार्ता की भूमिका पर विचार करते हैं तो हमारे सामने सामाजिक विकास से सम्बन्धित सवालों की एक पूरी श्रृंखला ही उपस्थित हो जाती है। क्या सामाजिक विकास का मतलब समाज के एक वर्ग की कीमत पर दूसरे वर्ग का आर्थिक विकास है जैसा कि इस वक़्त हो रहा है? और फिर क्या इसके तहत जनता के एक हिस्से के आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उस हिस्से का तुलनात्मक रूप से सांस्कृतिक दरिद्र होना ज़रूरी है, जैसा कि अभी हो रहा है?

और, फिर यह सवाल उठता है कि लोकवार्ता है क्या? यदि जनता का एकत्र व्यावहारिक ज्ञान नहीं है, जो कि अनेक शताब्दियों में सामाजिक संघर्षों में तरंगित होकर नये क्रिस्टल रूपों में परिवर्तित हो गया है और जो मूल्यों की परिवर्तनशील व्यवस्था का संवाहक है। ये मूल्य समाज को सहारा देते हैं और उसकी संवृद्धि करते हैं और इस प्रक्रिया में जनता की आध्यात्मिक पहचान के खाके को परिभाषित और पुनर्परिभाषित करते हैं।

यदि मामला यह है तो लोकवार्ता और लोक संस्कृति जनता की संवृद्धि और विकास के लिए उपलब्ध देशी साधनों के खज़ाने के कम से कम एक महत्वपूर्ण हिस्से का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देगी। क्या विकास की हमारी वर्तमान प्रक्रियाएँ जन संस्कृति के इस तथ्य के उपयोग के अनुरूप हैं? या वे सिर्फ यह सिद्ध करती दिखाई देती हैं कि हमारी समग्र लोक संस्कृति पुरानी तथा मरणासन्न है और इसलिए इसे इतिहास के कूड़ेदान में निश्चित रूप से फेंक दिया जाना चाहिए? इस सिद्धांत का समर्थन करने वाले कई बार यह सुझाते हैं कि यदि यह उपेक्षा जान-बूझकर नहीं की गई तो इतिहास अपना अपरिहार्य रास्ता अपनाएगा और अंततः समस्त देशी संस्कृति को समाप्त कर देगा। इस तरह की घटना होने पर अन्तिम परिणाम क्या होगा, सिवाय इसके कि तथा-कथित मानक संस्कृति का संवर्द्धन हो जो कि जनता की रचनात्मक शक्तियों की रंगारंग छबियों और छायार्थों से रहित हो। इस वक्त अपने देश में जो होना शुरू हुआ है, यह यही है। छत्तीसगढ़ में एक पुराना करमा गीत है जिसकी टेक इसी प्रवृत्ति को संकेतित करती है। वह टेक इस प्रकार है- ''करमा के पोथी ला घर में बिसर आयों, नाहक होंगे मोर आना ना''। करमा की किताब तो घर पर भूल आयी और मेरा इतनी दूर आना व्यर्थ हो गया।

हमारे विकास की प्रक्रिया में इस वक़्त उपभोक्ता समाज को बढ़ाने पर ज़ोर दिया जा रहा है। इस तरह के समाज की परिणति संस्कृति उपभोक्तावाद है। ऐसे समाज में संस्कृति स्वयं ही उपभोग के लिए जिंस बन जाती है। अतः हमारी कला और संस्कृति तेजी से उपभोक्ता-माल बनती जा रही है। एक उपभोक्ता-समाज के लिए आवश्यक है कि वह बड़ी टेक्नॉलॉजी का आयात करें और माल का बड़े पैमाने पर उत्पादन करें। जब यह सिद्धांत संस्कृति पर लागू किया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप एक नकल की गई और अनुशासित संस्कृति प्राप्त होती है जो कि अपनी जड़ों से कटी हुई होती है।

विकास का मुख्य साधन शिक्षा होने के कारण यह उचित होगा कि हम अपनी शिक्षा-प्रणाली-जो कि एक उधारी की चीज़ है, की हालत पर एक नज़र डालें। हमारी दमघोटू कक्षाओं ने विज्ञान की उच्च शिक्षा के नाम पर हमारी युवा पीढ़ी के दिमाग को अन्य सभी पहलुओं से विमुख कर दिया है और मुख्य रूप से उसे अपनी संस्कृति से अलग कर दिया है। बहरहाल इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि इन कक्षाओं ने युवा पीढ़ी को दूसरे क्षेत्रों में लाभ पहुँचाया हो। दूसरी ओर अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के संवहन का भार हमारी अशिक्षित ग्रामीण जनता पर छोड़ दिया गया है जिन्हें या तो औपचारिक शिक्षा के लाभों से वंचित रखा गया है अथवा जिन्हें प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था के ज़रिए घुल-मिल जाने की शापित प्रक्रिया द्वारा तथाकथित जीवन की मुख्य धारा में धकेल दिया गया है। दुर्लभ मौके पर ही उन्हें यह विकल्प मिलता है कि या तो वे शोषित वर्ग में बने रहें अथवा शासकों के समान शोषण करने वाले बनकर समाज के शोषक वर्ग में शामिल हो जायें।

इस दृष्टिकोण से देखने पर हमारी संस्कृति एक दूसरे के विपरीत दो शिविरों में बँटी नज़र आती है- शोषकों के वर्ग की संस्कृति और शोषितों के वर्ग की संस्कृति। यह कहानी कोई नई नहीं है क्योंकि यह स्थिति युगों से चली आ रही है। शासक वर्ग का हमेशा ही यह लक्ष्य रहा है कि वह ऐसी भाषा और संस्कृति निर्मित करे जो इतनी गूढ़ और रहस्यमयी हो कि जिसे समझना बाहरी व्यक्ति के लिए कठिन हो। उसका अर्थ समझना तथा उसके ज्ञान को प्राप्त करना दिशाहीन व्यक्तियों के लिए मुश्किल हो। बाहरी व्यक्ति आमतौर पर आम आदमी ही रहा है। इस समय भी हमारी राष्ट्रभाषा और प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सिने कैमरा-जैसे संचार के आधुनिक उपकरणों के सम्बन्ध में इससे मिलती-जुलती बात ही हो रही है, क्योंकि ये सारी चीज़ें इतनी ज़्यादा रहस्यमयी हो गई हैं कि वे आम-आदमी के लिए अस्पृश्य बन गई हैं, लगभग उसी तरह जिस तरह प्राचीन काल में शूद्रों के लिए वेद अस्पृश्य बना दिये गये थे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि हमारे संचार माध्यम सत्ताधारी वर्ग की ज़रूरतों के लिए ही उपयोग में लाये गये हैं और इस तरह वे आम-आदमी के दमन के साधन बन गये हैं।

इस समय भी हमारी राष्ट्रभाषा और प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सिने कैमरा-जैसे संचार के आधुनिक उपकरणों के सम्बन्ध में इससे मिलती-जुलती बात ही हो रही है, क्योंकि ये सारी चीज़ें इतनी ज़्यादा रहस्यमयी हो गई हैं कि वे आम-आदमी के लिए अस्पृश्य बन गई हैं, लगभग उसी तरह जिस तरह प्राचीन काल में शूद्रों के लिए वेद अस्पृश्य बना दिये गये थे।

प्रवीण दीक्षित

उदाहरण के लिए, आख़िर टेली-कैमरे में ऐसा क्या है कि जिसके उपयोग लिए उच्च शैक्षिक उपाधि की ज़रूरत हो? ऐसा लगेगा कि इस कैमरे का सृजनात्मक ढंग से उपयोग करने के लिए अगर ज़रूरत है तो कल्पना की, फिर भी वह किसी ऐसे लोक कलाकार को नहीं दिया जा सकता जो कि कल्पनाशील किन्तु अशिक्षित हो और शायद जो अपनी ज़िन्दगी को ज़्यादा सच्चाई और कलात्मकता के साथ दिखा सकता हो। यदि उनकी ज़िन्दगी और संस्कृति को दिखाया ही जाना है तो वह शिक्षित मध्यमवर्ग के कुछ लोगों की जीवन शैली और समस्याओं से पूरी तरह नावाकिफ़ है। और यदि उनके बीच किसी ऐसे व्यक्ति की घुसपैठ हो जाये जो जनता की तरफ से बीड़े को उठाये और जनता की ज़िन्दगी को साहस तथा कल्पनाशीलता के साथ उजागर करे तो उसकी कृति को अक्सर ही समाज-विरोधी और आपत्तिजनक निरुपित किया जाता है। और यदि उसे बेमन से स्वीकार भी कर लिया जाये तो वह स्वीकृति विस्फोटक स्थिति को शांत किये जाने का उपाय करने के रूप में होती है, बजाय इसके कि वह एक अनुकरणीय अच्छा उदाहरण बन सके। यह स्थिति हमारी गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में है। चिकित्सा के क्षेत्र में हमने बहुराष्ट्रीय औषधि उद्योगों को अपने डॉक्टरों तथा बाज़ार को प्रभावित करने और इनके माध्यम से जनता को उनके वश में करने की छूट दे दी है। और जब कभी, उदाहरण के लिए अल्मोड़ा के प्रख्यात क्षय रोग विशेषज्ञ डॉक्टर खजानचंद जैसे व्यक्ति जड़ी-बूटियों से ऐसी औषधि तैयार कर लेते हैं जो कि बिना दुष्प्रभाव के सभी प्रकार के क्षय रोगों को ठीक कर ले, तो डॉक्टरों, हमारी चिकित्सा संस्थाओं, हमारे स्वास्थ्य मंत्रियों और स्वास्थ्य विभागों या उच्चतम अधिकारियों द्वारा उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और यदि ऐसा व्यक्ति किसी प्रयोगशाला में अपनी औषधि को जाँच करने के लिए देता है, जिसके लिए वह बिना सफलता के जीवन भर प्रयास करता रहा, तो आप निश्चय जान जाइये कि यह आविष्कृत किया जायेगा कि वह औषधि प्रभावहीन है; इतना है बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पैसे का ज़ोर। खाद, रासायनिक उद्योग, स्थापत्य, कृषि विधियों और प्राथमिक शिक्षा जैसे सभी क्षेत्रों में देशी चीज़ों को लगभग पूरी तौर पर उपेक्षित कर दिया गया है, और विदेशी आयातित टेक्नॉलॉजी को आमतौर पर अध्यारोपित कर दिया गया है। और इसका प्रभाव विनाशकारी रहा है, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में अक्सर और संस्कृति के क्षेत्र में लगभग सदैव। आर्थिक क्षेत्र में बहुप्रचारित हरित क्रान्ति इसका एक उदाहरण है। जहाँ तक संस्कृति का सवाल है, उसकी विच्छिन्नता को हर कहीं देखा जा सकता है।

कोयला और लोहे के अयस्क की हमारी खदानें तथा बड़े इस्पात कारखाने हमेशा ही हमारे आदिवासी क्षेत्रों के केन्द्र स्थलों में

अवस्थित होते हैं। इनसे दूर आदिवासी अपनी पारम्परिक ज़िन्दगी को अब भी पूरी शांति के साथ, अपने कृषि कार्यों, सामान्य रुचियों, समूह, नृत्य और गान तथा हँसी में बिताते हैं, बावजूद इसके कि वे ज़रूरतमंद और गरीबी की वंचनाओं में जी रहे हैं। विकास के इन विशाल केन्द्रों के करीब ही आप उनकी सामुदायिक जीवन शैलियों को बिखरा हुआ पायेंगे जो ज़्यादा रोज़ी कमाने वाले, समाज से विमुख स्वार्थी व्यक्ति, शराबी, गर्म ग़ोश्त का सौदा करने वाले, छुट भैये चोर और तोड़फोड़ में लगे लालची असामाजिक तत्व बन गये हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में अपने ख़ुद के आर्थिक उद्देश्यों के लिए बनाई गई सड़कों पर मोटर से जाते हुए मैंने सैकड़ों आदिवासी पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को साप्ताहिक बाज़ारों में जाते हुए या वहाँ से लौटते हुए सड़क के एक तरफ अनुशासित रूप से इस तरह चलते देखा है जैसे वह सड़क उनकी न हो। वे ट्रकों, बसों, जीपों, कारों और मोटर-साइकिलों को बिना हॉर्न बजाये आने-जाने देते हैं। सड़क पर एक किनारे चलते हुए आने वाली गाड़ी का अन्दाज़ आधे फर्लांग दूर से ही लगा लेते हैं और इसके पहले कि वह उन तक आये वे अपने आप एक किनारे हो जाते हैं। बच्चा, स्त्री या पुरुष उसकी ओर पलट कर भी नहीं देखता। हमारे भीड़ भरे महानगरों और छोटे शहरों में ध्वनि के प्रति यह संवेदनशीलता और अनुशासन बिलकुल नहीं दिखाई देता। क्या यह अनुशासन और संवेदनशीलता ज़्यादा जगह की उपलब्धि का मामला है, अथवा वह लोगों के अन्तर्मन के तालमेल से भी सम्बद्ध है?

मैंने आदिवासी बच्चों को आमतौर पर खुश और हँसते हुए पाया है। उनकी माताएं उनका किस तरह ध्यान रखती हैं वह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। एक स्त्री सिर पर पानी का घड़ा लिए जा रही है और एक बच्चा उसकी छाती से चिपका हुआ है; दूसरा बच्चा उसके हाथ को पकड़े हुए उसके साथ रोता हुआ तब तक चलता है, जब तक उसकी माँ उसे चुपचाप एक हाथ से उठाकर अपने कूल्हे पर बैठा नहीं लेती और यह सब वह अपनी चाल की लयात्मकता को तोड़े बिना करती है।

प्रवीण दीक्षित

यह ख़्याल गलत है कि मैं सभी बड़े टेक्नॉलॉजी संयंत्रों को बन्द करने या सभी शिक्षा संस्थाओं को बन्द करने तथा इतिहास को उलटने के असंभव रास्ते को अपनाने तथा आदिम जीवन शैली का अनुगमन करने का प्रस्ताव कर रहा हूँ और न ही मैं गरीबी को गौरव मंडित करने तथा जनता की अभाव की भयावह दशा को रोमांटिक बनाने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं तो सिर्फ यही कह रहा हूँ कि हमने विकास के लिए तीसरे विश्व के रास्ते को खो दिया है। कमोबेश, हमने विकास में देशी टेक्नॉलॉजी के उपयोग को भुला दिया है। हम अपनी विकास योजनाओं और गतिविधियों में लोगों की सहभागिता अर्जित करने में असफल रहे हैं। हमने जनता के जीने की पारम्परिक शैलियों की शक्ति की उपेक्षा और उनका अवमूल्यन किया है, जिनमें से कई एक शैलियों को शैक्षिक तथा विकासात्मक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और सबसे ऊपर बात यह है कि हमने ग्रामीण और शहरी जनता के बीच, शिक्षित वर्ग और अशिक्षित लोगों के बीच और अमीर तथा गरीब लोगों के बीच की खाई को ज़्यादा गहरे होने दिया है, बजाय इन दोनों के बीच खाई को पाटने तथा उनके बीच रचनात्मक अंतर्क्रिया सम्भव बनाने के।

बहरहाल मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक तथा अन्य स्थानों पर ऐसे लोग तथा स्वयंसेवी संगठन है जो गतिविधि के हर क्षेत्र में उन दिशाओं में कार्य कर रहे हैं जिन्हें हमने आम तौर पर खो दिया है। और फिर तीसरे विश्व के दूसरे देशों में ऐसी पारम्परिक तथा अन्य नवाचारी विधियों के सफलतापूर्वक उपयोग के उदाहरण हैं जो कि शिक्षा और सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास में लोगों के जीवन के अनुरूप हों। ऐसी शक्तियाँ, सम्भव है अल्पसंख्या में हों और उनके प्रयास में समन्वय की कमी हो, फिर भी यदि हम अपने संवर्धनशील उपभोक्ता समाज के स्टीम रोलर द्वारा किया जाने वाला सम्पूर्ण विनाश, या कि आण्विक शक्ति द्वारा पूरी पृथ्वी का संहार नहीं चाहते हैं तो ये प्रयोग सुरक्षा और उपयुक्त संवर्धन के लिए कम से कम आशा की किरण हो ही सकते हैं।

बावजूद इसके कि बहुत कुछ हमने हमेशा के लिए खो दिया है, फिर भी हमारे पिछड़े कहे जाने वाले वर्गों के बीच पिछड़ेपन को धन्यवाद। हमारे लोक कलाकार और ग्रामवासी अपनी प्रदर्शनकारी शैलियों और लोकवार्ता को जीवित रखने के लिए महती सेवा कर रहे हैं। कुछ प्रदर्शनकारी शैलियों और लोकवार्ताओं ने पुनर्जन्म और नया संवर्धन प्राप्त किया है।

बावजूद इसके कि बहुत कुछ हमने हमेशा के लिए खो दिया है, फिर भी हमारे पिछड़े कहे जाने वाले वर्गों के बीच पिछड़ेपन को धन्यवाद। हमारे लोक कलाकार और ग्रामवासी अपनी प्रदर्शनकारी शैलियों और लोकवार्ता को जीवित रखने के लिए महती सेवा कर रहे हैं। कुछ प्रदर्शनकारी शैलियों और लोकवार्ताओं ने पुनर्जन्म और नया संवर्धन प्राप्त किया है, उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ (मध्यप्रदेश) में पंडवानी और चंदेनी, उड़ीसा में प्रहलाद नाटक। महाभारत की पंडवानी शैली अब अनेक दलों द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इन दलों में से कुछ के अगुआ बच्चे और युवा बालिकाएं हैं। पंडवानी एक धार्मिक प्रस्तुति की बजाय एक धर्मनिरपेक्ष नाटक के रूप में ज़्यादा उभरकर आया है। इसमें पौराणिक निर्मिति के मानव आयामों को समकालीनता के साथ बहुत संवेदनशीलता के साथ उभारा गया है। इसी तरह 'प्रहलाद'

नाटक जिस शैली में प्रस्तुत किया जाता है वह समयातीत पुराना मिथ नहीं है बल्कि उन सबसे ऊपर वह अत्याचार और कठ-मुल्लेपन के खिलाफ़ लड़ाई के रूप में है। छत्तीसगढ़ में रंगमंच के धर्मनिरपेक्ष नाचा रूप में सदैव ही सामाजिक विषय उभरते रहते हैं। उदाहरण के लिए, 'जमादारिन' शीर्षक का नाचा जाति व्यवस्था पर हास्य के साथ किन्तु विचारोत्तेजक और विचलित कर देने वाले रूप में भर्त्सना करता है। बिहार में 'चंदेनी' 'लोरिकायन' के रूप में ख्यात है। यह शैली लोरिक और चंदा की प्राचीन प्रेम कहानी और उनके अन्य क्रियाकलापों से सम्बन्धित है, और यह एक मुक्त नारी से चकित कर देने वाले उदाहरण को प्रस्तुत करती है। जात्रा, भवई, नौटंकी ये सबके सब समान रूप से समाजोन्मुख हैं। हमारे लोकगीतों में दूसरे विश्व युद्ध, गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्र नेता, स्वदेशी आन्दोलन, देश के विभाजन-जैसे संदर्भ समाहित हो गये हैं। इनमें अपने पुराणों में संदर्भ तो मिलते ही हैं, और इस तरह ये लोकगीत न केवल परम्परा की निरन्तरता को सुनिश्चित करते हैं वरन् रूपान्तरण और संवर्धन के तत्वों के संवाहक भी बनते हैं।

कबीर के पद पूरे देश भर के लोक गायकों द्वारा सदा परिवर्तनशील शब्दों और रूपों में गाये जाते हैं। लोकवार्ता एक रुक जाने वाली संस्कृति नहीं है बल्कि गत्यात्मक है जो कि परिवर्तन आत्मसात करते हुए, महान रूपान्तरों की सम्भावनाओं का इशारा करते हुए परिवर्तन करने में सक्षम है। अपने देश की तथा-कथित मानक भाषाएं जिनके पक्षधर लोग तथा-कथित अमानक भाषाओं अथवा लोगों की बोलियों को उपेक्षित और समाप्त करने को प्रवृत्त हैं, अपने आपको संवर्धन के अपने स्त्रोतों के लाभ से वंचित करती है- लोगों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों के सटीक उपयोगों से वंचित करती है, जो कि अपनी सांस्कृतिक मुख्य धारा को बहुत अधिक जीवन शक्ति उपलब्ध करा सकते हैं। आमतौर पर एक शिकायत रहती है कि भारत में हमारे पास बाल गीत पहेलियाँ, निरर्थक पद जैसी चीज़ें बच्चों के लिए नहीं हैं। साहित्य के इस रूप की सम्पदा का आविष्कार करने के लिए हमें सिर्फ अपनी बोलियों की ओर नज़र डालने भर की देर है। परन्तु हम उन्हें खोजने और शिक्षा के क्षेत्रों में उपयोग में लाने में असफल रहे हैं। कबड्डी और फुगड़ी जैसे खेल, जो कि आनन्द से भरे हुए व्यायाम और शरीर बनाने के अच्छे साधन हैं, अब भी हमारी प्राथमिक शालाओं तक में उपेक्षित हैं। उल्लेखनीय है कि इन शालाओं ने नीरसता और उदासीनता के लिए कीर्तिमान स्थापित कर रखा है। यह अनुमान कर लेना भोलापन होगा कि उत्पादन के साधनों में प्रगति से कृषि और उद्योग के उत्पादन में क्रान्ति आ गई है, तो उसी सिद्धांत को संस्कृति के उत्पादन में लागू किया जा सकता है। अब तक संस्कृति के संवर्धन को नियन्त्रित करने वाले नियमों को खोजा नहीं है, यद्यपि इस तरह के नियम आर्थिक पक्ष के लिए हैं। कहने का मतलब यह नहीं कि आज की सिनेमा- या टी.वी. संस्कृति पूरी तौर पर अर्थहीन है। इसके विपरीत हमने जीवन में महान सिनेमा देखा है और हम टी.वी. माध्यम की क्षमता के प्रति सजग हैं। मुद्दा यह है कि इतिहास के दो अलग युगों की संस्कृतियों के गुणों की कोई तुलना नहीं कर सकता। जबकि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में यह किया जा सकता है।

सांस्कृतिक नीति निर्मित करने के मामले में हमें ज़्यादा लचीलेपन की ज़रूरत है। हम जब प्रयोग और महान नवाचार लागू करने की कोशिश कर रहे हों तब भी परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सकते, यह कहते हुए कि वह पुराने प्रचलन की समयातीत शैली और अर्थव्यवस्था को प्रतिबिम्बित करती है। परम्परा पवित्रीकरण अथवा पूजा किये जाने के लिए नहीं है, जैसा कि न्यस्त स्वार्थी हमें भरोसा दिलाना चाहेंगे, इसकी बजाय वह हमें ऐसा कच्चा माल उपलब्ध कराती है जिस पर हम कला के सदैव नये भवन को निर्मित कर सकते हैं, यदि उसे एक सुदृढ़ बुनियाद की आवश्यकता हो तो।

निर्मल व्यास

इतिहास के दो अलग युगों की संस्कृतियों के गुणों की कोई तुलना नहीं कर सकता। हम जब प्रयोग और महान नवाचार लागू करने की कोशिश कर रहे हों तब भी परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सकते, यह कहते हुए कि वह पुराने प्रचलन की समयातीत शैली और अर्थव्यवस्था को प्रतिबिम्बित करती है।

इधर श्रव्य-दृश्य माध्यमों का तेज़ी से विकास हो रहा है और पाठ्य माध्यम की उपेक्षा हो रही है। श्रव्य और दृश्य माध्यम इतने लोकप्रिय हो रहे हैं कि पुस्तकें संस्कृति से बाहर हैं। अख़बार मझोले संचार माध्यम हैं, वे दबे-दबे, घुटे-घुटे और बड़े संचार माध्यम टेलीविजन के आगे पिछड़ जाने की हीनता ग्रंथि के साथ निकल रहे हैं। आने वाले दिनों में घर तक सीधे प्रसारण ग़ज़ब ढाहेगा उसका अर्थ होगा घर तक सीधे रंगीन कचरा।

पाठ्य माध्यम का पक्ष

शंभूनाथ

पाठ्य माध्यम को पिछड़ा घोषित करने में बुद्धिजीवी कम आगे नहीं हैं। वे लिखित व वाचिक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहे हैं। लोक साहित्य वाणी में है और पॉप गीत संगीत भी। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने पहचाना है वाणी का महत्व। उसने हाई कल्चर को लो तक और लो कल्चर को हाई तक पहुंचा दिया है। इस परिप्रेक्ष्य में लिखित साहित्य को विशिष्ट वर्गीय, उच्च संस्कृति वाला और सीमित घोषित करके अलग-थलग करने की कोशिशें चल रही हैं। समाज में प्रवचनकर्ता और टीवी व्यक्तित्व लेखकों से अधिक महान हो गए हैं।

पाठ्य माध्यम की श्रेष्ठता पर चर्चा करने से पहले टेलीविजन की इस सीमा को समझना जरूरी है कि यह सूचना का एकतरफ़ा प्रवाह है। इसे सही सूचना देने के वैयक्तिक अधिकार से उसी तरह मतलब नहीं है जिस तरह सही सूचना पाने के वैयक्तिक अधिकार से। उसके लिए सूचना या सुख एक बाज़ार-उत्पाद है। उसे सूचना की बदली रकम से मतलब है, सूचना के गलत-सही होने से नहीं, छोटी-बड़ी होने से नहीं, किसी चीज़ के सूचना बन पाने और किसी के न बन पाने से नहीं। उसे ज्ञान से अधिक मनोरंजन से मतलब है। वह अपने मतलब के घोड़े से कभी नहीं उतरता। पाठ्य माध्यम के आधुनिक विकास का संबंध मानव स्वतंत्रता के विकास से है। उसका इतिहास स्वतंत्रता के लिए लड़ने का इतिहास है। 1823 में जब प्रेस पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने प्रतिबंध लगा दिया तब राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश सरकार के पास भेजे अपने ऐतिहासिक प्रतिवाद पत्र में लिखा था, 'प्रेस की स्वतंत्रता ज्ञान के लिए ज़रूरी है, केवल निरंकुश सत्ताएं एक्सपोजर के भय से इस स्वतंत्रता से घबराती हैं।' उस समय के पाठ्य माध्यम बाज़ार के ही मंच थे पर वे सामाजिक चेतना के अस्त्र भी थे। ज्ञान सामाजिक चेतना का अस्त्र भी हो सकता है और उसका शस्त्र भी। बड़े संचार-माध्यम द्वारा जो ज्ञान फैलाया जा रहा है वह सामाजिक चेतना का शत्रु है।

पाठ्य माध्यम ख़ासकर अख़बार, पत्र-पत्रिकाएँ सामाजिक चेतना के अस्त्र रहे हैं। प्राचीन सामंती रूढ़ियों और साम्राज्यवाद से टकराने के मामले में, घोटाले और भ्रष्टाचार के अनावरण या जनता की आकांक्षाओं को शासक वर्ग तक पहुंचाने के मामले में पाठ्य माध्यम ही आगे रहे हैं। टेलीविजन यह ज़ोख़िम ख़ुद नहीं उठा सकता। वह लड़ाई के दृश्य दिखा सकता है, ख़ुद लड़ नहीं सकता।

कुछ उत्तर आधुनिक लेखक सम्मोहन में संचार क्रांति को सुरसा के मुख की तरह दिखा रहे हैं जो साहित्य, मानवता, सामाजिकता और हर श्रेष्ठ चीज़ को निगल लेगा। कई टीवी में गए और हजम हो गए, कई डरे हुए हैं, उन्हें पाठ्य माध्यम पर भरोसा नहीं है। दरअसल उन्हें पाठ्य माध्यम की विलक्षणता का ज्ञान नहीं है। वे भूल गए हैं कि पढ़ना अपने व्यक्तित्व को ज़िंदा रखना है। पढ़ते समय पाठक का स्व हमेशा सचेतन और सक्रिय रहता है जबकि टेलीविजन देखते समय वह उसके सामने बुद्धू सा बैठा रहता है। वह पाठ के किसी भी बिन्दु पर ठहर कर सोच सकता है, कल्पना कर सकता है और दोबारा पढ़ सकता है। जबकि टीवी के धारावाहिक और विज्ञापन के सामने वह एक निष्क्रिय, विमुग्ध और बाध्य दर्शक होता है। वह लगातार देखते हुए कभी सोच नहीं सकता। पाठ्य माध्यम का लिखित रूप ख़ुद स्थिर हो जाता है लेकिन पाठक को गतिशील रहने का मौका रहता है। जबकि दृश्य माध्यम ख़ुद धड़ाधड़ गतिशील रहकर दर्शक को स्थिर और परवश कर देता है। टीवी हमेशा यही पूछता है कि पोस्टकार्ड भेजकर बताओ, तुम्हें सबसे हिट क्या लगा? वह कभी नहीं पूछता कि तुम्हें क्या बुरा लगा, तुम कहाँ असहमत हो।

पाठ्य माध्यम की सबसे बड़ी ख़ूबी है कि वह असहमति और प्रतिवाद की आज़ादी देता है जो आधुनिकता की एक महान उपलब्धि है। यदि समाज में पढ़ना घटा है तो इसका यह अर्थ है कि आधुनिकता घटी है और मनुष्य की आज़ादी की लड़ाई में ह्रास आया है। उत्तर आधुनिक लेखक सोचते हैं कि गरीबों और दलितों में भी खाने-पीने, मौज करने की इच्छाएं पैदा हो रही हैं, स्त्रियों में कामुकता प्रदर्शन की इच्छाएं पैदा हो रही हैं। बेटे अपने माता-पिता को त्याग रहे हैं। स्थानीय-भूमंडलीय गठजोड़ रौनक ला रहा है। वे सोचते हैं

कि यही सब आज़ादी है। समाज में गुलामी जब तक कोई समस्या नहीं है बल्कि उसमें सुखवाद है, तब तक पाठ्य माध्यम को आघात झेलने होंगे। लेकिन क्या यही वह सही घड़ी नहीं है जब करोड़ों लोगों की आज़ादी का भविष्य नए सिरे से तय होना है? जिस समाज में आज़ादी का भविष्य नए सिरे से तय होना है? जिस समाज में आज़ादी की भूख होगी, उस समाज में पढ़ने की भूख कभी मर नहीं सकती। रवींद्रनाथ ठाकुर ने किसी से सुनी घटना के आधार पर लिखा था, 'मैंने एक घटना सुनी है- कई लोग मारे जाने के डर से घुटने भर पानी में ही डूब मरे थे। उन्होंने घबराकर यह मान लिया था कि पैरों के नीचे मिट्टी नहीं है। हम इसी तरह हो रहे हैं। झूठ-मूठ के डर को दूर करना होगा। चाहे जिस उपाय से हो, हमें मन में यह विश्वास दृढ़ करना होगा कि पैरों के नीचे ज़मीन है।'' बड़े संचार माध्यम की बाढ़ कमर तक है और हम जहाज़ का इंतजार कर रहे हैं।

हिन्दी पाठ्य माध्यम का एक लंबा इतिहास है। फिर भी जितना बड़ा समाज है उतने पाठक नहीं हैं। हिन्दी पाठक का संकट दरअसल हिन्दी समाज में स्वतंत्रता की विस्तृत चेतना का संकट है। यद्यपि हिन्दी पट्टी में राजनैतिक स्वाधीनता के लिए कम आंदोलन नहीं चले, पर ये आंदोलन इस पट्टी के लोगों की मानसिक रूढ़ियों को झकझोर नहीं सके। हिन्दी के पहले समाचार पत्र 'उदंत मार्त्तण्ड' को पाठक के अभाव में बंद करते हुए उसके संपादक युगलकिशोर सुकुल ने आख़िरी अंक (1827) में 'हिन्दुस्तानियत की जड़ता के खेत' के संदर्भ में कहा था कि 'ऐसी कठोर भूमि काहे को जुतैं।' अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने 'नृसिंह' के जुलाई 1908 के अंक में हिन्दी पाठकों की जो तस्वीर खींची है, वह आज भी ताज़ा है, 'हिन्दी पत्रों के पाठकों को साधारणतः भले-बुरे का ज्ञान नहीं होता। तड़क-भड़क पर लोट-पोट हो जाते हैं। चित्र के प्रेमी और समाचारों के पाठक ही हिन्दी में अधिक हैं। विषय की उत्कृष्टता देखकर कम लोग ग्राहक होते हैं।' हिन्दी पाठकों का बौद्धिक पिछड़ापन हिन्दी समाज के संपूर्ण पिछड़ेपन का एक अंग है।

हिन्दी समाज सदा से ही नकली और चमत्कारपूर्ण चीज़ों की तरफ़ आकर्षित होता रहा है। इसलिए जड़ता की प्रतिक्रिया में विद्रोह भी सबसे ज़्यादा इसी समाज में हुए। ऋषियों, कवियों, विद्वानों और कलाकारों ने समय-समय पर आवाज़ उठाई। यह अलग बात है कि ऐसे महापुरुषों के प्रति आदरभाव कभी 'रिचुअल्स' से ऊपर नहीं उठ सका। हिन्दी समाज ने अपने आधुनिक कवियों, लेखकों, विद्वानों, कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों को हृदय में जगह दी ही नहीं, जिस तरह बंगाल, महाराष्ट्र या केरल में हुआ। यही वजह है कि बड़े संचार माध्यम ने बहुत सस्ती लोकप्रियतावादी चीज़ों के बल पर बहुत जल्दी दिग्विजय कर ली।

हिन्दी पाठक के संकट का संबंध हिन्दी समाज में साक्षरता और बौद्धिक चेतना के अभाव से ही नहीं है, शासक वर्गों द्वारा समाज को पिछड़ा रखने के कुचक्रों से भी है। हाल के उभरे रूढ़िवादी और संकीर्णतावादी आंदोलनों को और बड़े संचार माध्यमों के सांस्कृतिक आक्रमण को सबसे ज़्यादा हिन्दी समाज झेल रहा है। पढ़ने की संस्कृति वैसे ही उजड़ रही है जैसे जंगल कट रहे हैं, घरों से आंगन गायब हो रहे हैं और बच्चों का बचपन जल्दी खो रहा है। इसके बावजूद छोटे स्तरों पर ही सही, मुठभेड़ ज़िंदा है। पढ़ने की संस्कृति को बचाने के प्रयत्न बचे हुए हैं। अधिक कीमत, दोषपूर्ण वितरण, सरकारी उपेक्षा और पक्षपात आदि के बावजूद पुस्तकें छप रही हैं, लघु पत्रिकाएं निकल रही हैं। अब यह ज़रूरी समझा जा रहा है कि जो लिखा जाए वह पठनीय हो, सारवान के साथ-साथ रोचक हो। दर्शक तभी पाठक बनेंगे। पाठक भले बिखरे हुए हों, पर हैं। घरों में माता-पिता के मन में यह चिंता मौजूद है कि पढ़ने की संस्कृति की रक्षा करनी है अन्यथा टीवी उनके बच्चों को हड़प लेगा। पढ़ने की संस्कृति का निर्माण टीवी का विरोध नहीं है। टीवी देखना बुरा नहीं है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया विज्ञान की एक महत्वपूर्ण देन है। लेकिन संचार के नए आधुनिक माध्यम के उपयोग का अर्थ यह नहीं है कि पुराने आधुनिक माध्यम को खो दें। पढ़ने की संस्कृति मनुष्य की सौंदर्यात्मक कल्पना और विचारशक्ति को बचाने के लिए ज़रूरी है। अपने व्यक्तित्व को व्यवसायिक बुद्धि की दासता और दुःस्वप्नों से बचाने के लिए पढ़ना ज़रूरी है। जीवन के बारे में गहरे और विस्तृत यथार्थवादी नज़रिए के लिए पढ़ना बहुत ज़रूरी है। उस समाज के लोगों के लिए पढ़ना और भी ज़्यादा ज़रूरी है, जहां अन्याय और दमन के अनगिनत मायावी रूप हैं। पढ़ना लड़ना है। पढ़ना स्वतंत्र होना है जिसका कोई विकल्प नहीं। इसलिए इस सदी के शेष वर्ष और भावी सदी की सबसे बड़ी लड़ाई, पढ़ने की संस्कृति और इसके माध्यम से मनुष्य की संवेदनशीलता, उसकी विचारशक्ति को बचाने की है।

‘ अपने व्यक्तित्व को व्यवसायिक बुद्धि की दासता और दुःस्वप्नों से बचाने के लिए पढ़ना जरूरी है। जीवन के बारे में गहरे और विस्तृत यथार्थवादी नज़रिए के लिए पढ़ना बहुत ज़रूरी है। उस समाज के लोगों के लिए पढ़ना और भी ज़्यादा ज़रूरी है, जहाँ अन्याय और दमन के अनगिनत मायावी रूप हैं। ’

पढ़ने की संस्कृति को बचाने के लिए मातृभाषा को बचाना, साहित्य को समाज से और शब्द को कर्म से जोड़ना ज़रूरी है। आज लेखक की ज़िम्मेदारी केवल लिखने की मेज का यांत्रिक अंग बन जाने या वाचिक परंपरा के नाम पर भाषण झाड़ने तक सीमित नहीं हो सकती। सिर्फ शिक्षा या दौलत से दौलतमंद भी बहुत असंस्कृत देखे गए हैं क्योंकि शिक्षा ने उनको डिग्री और दौलत ने ठाठ दिया, पर संस्कृति नहीं दी। इसलिए ख़ुद लेखक सहित संपूर्ण पढ़े-लिखे वर्ग तक संस्कृति पहुंचना अभी भी बाकी है। ऐसी संस्कृति जो मानवतावादी, बुद्धिवादी, राष्ट्रीय और आधुनिक हो। पढ़ने की संस्कृति इसी मिश्रित संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

लेखक के लिए शब्द से आगे बढ़ने का अर्थ है कि वह अपने लेखन कर्म को एक संपूर्ण संस्कृति कर्म का रूप दे। शब्द की प्रतिष्ठा के लिए ज़रूरी है संस्कृति कर्म। यदि हमारी विकासशील राष्ट्रीय संस्कृति नहीं बची तो पढ़ने की संस्कृति नहीं बचेगी, साहित्य नहीं बचेगा। साहित्य नहीं बचेगा तो अपनी भाषा नहीं बचेगी और अपनी भाषा नहीं बची तो समाज भी नहीं बचेगा, वह विघटित हो जाएगा।

विवेचना

प्रसाद के नाटक

महेश आनंद

जयशंकर प्रसाद के नाट्य-लेखन और रंग-चिंतन से हिन्दी नाटक और रंगमंच का एक महत्वपूर्ण चरण आरंभ होता है। उन्होंने अपने नाटकों में, जातीय स्मृतियों को उजागर करके, औपनिवेशिक राजसत्ता के विरुद्ध एक प्रतिरोधी चेतना जागृत की और एक सर्वथा नए रंगमंच की तलाश का सार्थक प्रयास किया। यह एक ऐसे नाटककार की तलाश थी, जो अनेक अनुशासनों से गुज़रकर अपने समय को अभिव्यक्ति देने के लिए एक नया मुहावरा पाना चाहता था और रंगमंच की परंपराओं और रूढ़ियों का रचनात्मक प्रयोग करते हुए भी, उनसे मुक्त होकर, नई दिशाओं का संकेत दे रहा था। इसे पहचानने और विकसित करने की अपेक्षा, अधिकांश आलोचकों ने प्रसाद के नाटकों के एक ऐसे गलत पाठ की शुरुआत की, जिसने नाटक और रंगकर्म में संवादहीनता की स्थिति उपस्थित कर दी। फिर भी, हिन्दी रंगमंच की अपनी पहचान बनाने की कोशिशों में रंगकर्मी लगातार प्रसाद की ओर लौटते रहे और उनके नाटकों के ही नहीं, कहानियों और काव्य के साथ भी नए प्रयोग करते रहे।

महाकवि- नाटककार प्रसाद

नाट्याभ्यास का एक और रूप

प्रायश्चित

प्रायश्चित (1912) प्रसाद का पहला नाटक है, जिसमें वे भारतेंदु की नाट्य-परंपरा से अलग हटकर नए शिल्प की ओर अग्रसर हुए हैं। इस रचना में उन्होंने नांदीपाठ, प्रस्तावना, भरतवाक्य, गीतों, पद्यात्मक संवादों एवं विदूषक का इस्तेमाल नहीं किया, हालांकि विद्याधरियों का प्रवेश एक तरह से प्रस्तावना का ही नया रूप है, जिसके द्वारा नाटक की पूर्व-कथा का उद्घाटन हुआ है और जयचंद के हृदय-परिवर्तन को आधार मिला है। इसी प्रकार आकाशवाणी का प्रयोग संस्कृत नाटकों से मिलता-जुलता है तथा प्रारंभ में जयचंद का एकालाप भी संस्कृत के भाण रूपक के नज़दीक है।

प्रस्तुत नाटक में प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास से जयचंद और पृथ्वीराज की शत्रुता तथा मुहम्मद गोरी के आक्रमण से संबंधित किंवदंतियों से कुछ सूत्र लेकर जयचंद की नीचता, देशद्रोह, हृदय-परिवर्तन एवं प्रायश्चित की कहानी कही है। यद्यपि इस नाटक में राष्ट्रीयता के संबंध में एक-दो टिप्पणियाँ मिल जाती हैं, परन्तु देश की दासता का मुख्य कारण पारस्परिक वैमनस्य और प्रतिहिंसा को मानते हुए, वे भारतीय वीरों को इससे उबरने की प्रेरणा देना चाहते थे। स्वतंत्रता-आंदोलन के समय जयचंद जैसे देशद्रोही राष्ट्रीय आंदोलन को खोखला और असफल बना रहे थे। इसके लिए प्रसाद ने आत्मगौरव की भावना को प्रतिष्ठित करते हुए व्यक्ति की नैतिकता के प्रश्न को मुख्य माना है। वे उन सार्थक बिंदुओं से गहराई में जाकर नहीं उलझते। स्थितियों का सतही रूप प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस अवास्तविक धरातल पर जयचंद को प्रस्तुत किया है, उससे पलायन का स्वर व्यंजित होता है। जयचंद की आत्महत्या से उसकी कायरता एवं विवशता ही उभरती है, प्रायश्चित या आत्मगौरव की भावना रेखांकित नहीं होती।

● क्लासिक

प्रसाद ने नाटक को छः दृश्यों में बाँटकर कथावस्तु का जिस प्रकार संयोजन किया है, उससे ऐसे अर्थ का उद्घाटन नहीं हुआ, जो नाटक के संदर्भों को दृश्यात्मक सार्थकता के साथ प्रस्तुत कर सके। यहाँ प्रश्न श्मशान में 'बुझती हुई चिता' या 'जयचंद का गजारोहण', और 'गंगा में धँसना' जैसे अस्वाभाविक दृश्यों का नहीं, उस अर्थ का है जिसे प्रसाद इनके द्वारा प्रस्तुत करना चाहते थे। वैसे, इस छोटे-से नाटक के लिए छः दृश्यों की योजना अधिक सहज नहीं लगती। इनकी परिकल्पना को मंच पर साकार करना असंभव तो नहीं, निरर्थक प्रयास अवश्य लगता है। नाटक के छः लघु खंडों में, जयचंद की प्रतिहिंसा का स्वरूप एवं यवनों को निमंत्रण देने की सूचना, जयचंद द्वारा अपने निंदनीय दुष्कर्मों के लिए पश्चाताप, प्रायश्चित के रूप में जामातृ-वध के लिए शत्रु-वध एवं देशद्रोह के लिए आत्मघात, मुहम्मद गोरी की योजना, जयचंद में कायरता का उभार तथा उसके द्वारा आत्मघात जैसी दृश्यात्मक इकाइयों में से गोरी वाला चौथा दृश्य असंगत लगता है। उसके द्वारा जयचंद को दिल्ली का तख़्त न देने

इस नाटक में पुराने रंग-तत्वों से छुटकारा पाने और नए को स्वीकार करने की प्रक्रिया में प्रसाद नई संभावनाओं की तलाश के स्पष्ट या सूक्ष्म बिन्दु अंकित नहीं कर पाए। एक तरह से प्रायश्चित भी उनकी ऐसी रचना है, जिसमें वे नाट्याभ्यास करते हुए दिखाई देते हैं।

की सूचना हमें तीसरे दृश्य में मिल जाती है और आक्रमण की सूचना पाँचवें दृश्य से भी मिल जाती है। अन्य इकाइयों में जयचंद का हृदय-परिवर्तन, प्रलाप या मूर्च्छित होने वाले प्रसंगों में उसकी भावनाओं का जो अतिनाटकीय रूप मिलता है, उसमें दृश्यात्मक आकर्षण का अभाव है। प्रसाद ने जिस प्रकार की दृश्यात्मक परिकल्पना एवं भाषा के आधार पर इन स्थितियों का निर्माण किया है, उनसे पात्रों के कार्य-व्यापार किसी प्रकार की नाटकीय उत्तेजना या तनाव की सृष्टि करने में असमर्थ रहे हैं। विशेष रूप से, संयोगिता की मूर्ति देखने, राजाओं को सहायता देने से इनकार और आत्मघात की ओर अग्रसर होने जैसे प्रसंगों में जयचंद के प्रलाप ने, नाटक की गति को ही धीमा नहीं किया, रचना को भी हल्का बनाया है।

कुछ आलोचकों ने नाटक के अंत में जयचंद के आत्मघात के आधार पर इसे 'हिन्दी की प्रथम मौलिक ट्रैजेडी' कहा और उन्हें संपूर्ण नाटक शेक्सपियर के मैकबेथ के आधार पर लिखा गया मालूम हुआ है। कुछ अन्य आलोचकों को, 'श्मशान-भूमि में अट्टहास, संयोगिता का प्रेतात्मा की झलक देखना, मानसिक-द्वंद्व के प्रसंगों से शेक्सपियर के दुखांतकी हैमलेट में अंकित प्रसंगों की याद' आती है।

इस नाटक की संरचना का आधार इतना कमज़ोर है कि त्रासदी के उपयुक्त वातावरण को तैयार करने में नाटककार असमर्थ रहा है। ऐसी स्थिति में शेक्सपियर के किसी भी नाटक के साथ प्रायश्चित की तुलना बड़ी हास्यास्पद लगती है। वास्तव में, अधूरी और असहज रेखाओं से बना हुआ जयचंद का चरित्र जिस रूप में आया है, वह कहीं भी शेक्सपियर के त्रासदी नायकों की तरह उदात्त नहीं बन सका है। उसका चरित्र ऐसा भी नहीं है कि वह प्रारंभ में अच्छा था और बीच में कुछ गलती होने के कारण प्रायश्चित करना चाहता है। सही यह है कि जयचंद प्रारंभ से ही गलत था, हालांकि बाद में वह अपनी त्रुटि जान लेता है। किन्तु शेक्सपियर के नाटकों की तरह मरने से पूर्व उस कठोर यातना से नहीं गुज़रता, जिसका बीज उसकी त्रुटि या अपराध के कारण पड़ा है। अतः, कहा जा सकता है कि जयचंद का आत्मघात उसके चरित्र का परिमार्जन न होकर एक भावुक और कायर व्यक्ति की ग्लानि का परिणाम है, जो किसी भी बिन्दु पर पाठक (दर्शक) को उद्वेलित नहीं करता।

अगर नाटक के द्वितीय दृश्य के अंत में, विद्याधरियों की आकाशवाणी के बाद, उसको मूर्च्छित करने की अपेक्षा, उसके आंतरिक द्वंद्व अथवा कर्त्तव्य एवं प्रायश्चित की टकराहट को तीखे स्वर मिलते तो एक सीमा तक दर्शकों को जयचंद की श्रेष्ठता का बोध होता। उसके आंतरिक द्वंद्व के जो क्षण नाटक में अंकित हुए हैं, वे इतने प्रबल नहीं हैं कि जयचंद के उत्तेजित होकर आत्महत्या करने का औचित्य सिद्ध कर सकें। जयचंद के अंतर्द्वंद्व में इस प्रकार का उतार-चढ़ाव भी नहीं है कि इस पात्र की नैतिकता-अनैतिकता का प्रखर रूप दर्शक के सामने आए और वह उसका विश्लेषण करने में समर्थ हो। इसीलिए अंत में जयचंद न तो श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न कर सका और न ही नैतिक भावनाओं का संचार करने में समर्थ हो सका। यद्यपि जयचंद का अंत नाटककार द्वारा आरोपित किया गया है, फिर भी वह मैकबेथ या हैमलेट की तरह का अंत न होकर भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कर्मों का दंड भोगने वाले व्यक्ति का अंत है। यहाँ शेक्सपियर की तरह उन दैवी शक्तियों का प्रवेश नहीं दिखाया गया, जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं है। इस दृष्टि से विद्याधरियाँ मैकबेथ की जादूगरनियों (वियर्ड सिस्टर्स) की तरह नहीं हैं। वे न तो जयचंद की महत्वाकांक्षा को उभारती हैं और न ही बार-बार उससे संवाद करने के लिए प्रस्तुत होती हैं। मैकबेथ की जादूगरनियाँ दुष्टता को जन्म देती हैं, जबकि प्रायश्चित नाटक की विद्याधरियाँ शुभकार्य के लिए प्रेरित करती हैं। संस्कृत के विक्रमोर्वशीय (कालिदास) या उत्तररामचरित (भवभूति) नाटकों में भी इसी प्रकार के अदृश्य पात्र देखे जा सकते हैं। विद्याधरियों का प्रवेश अनावश्यक नहीं है, जैसा कि कुछ आलोचक मानते हैं। वस्तुतः, इस नाटक में जो थोड़ी-बहुत नाटकीयता है, वह विद्याधरियों से संबंधित दृश्यों में ही है। संयोगिता की मूर्ति देखने का दृश्य मैकबेथ में बांकों की प्रेतात्मा जैसा नहीं है, क्योंकि दोनों ही पृष्ठभूमियों में गहरा अंतर है। यहां संयोगिता की छाया बांकों की तरह जयचंद को शंकित या भयभीत न करके उसको उद्देश्य की याद दिलाती है। यह भी सच है कि प्रसाद इन नाट्य-युक्तियों का सार्थक प्रयोग नहीं कर पाए।

वस्तुतः, इस नाटक में पुराने रंग-तत्वों से छुटकारा पाने और नए को स्वीकार करने की प्रक्रिया में प्रसाद नई संभावनाओं की तलाश के स्पष्ट या सूक्ष्म बिन्दु अंकित नहीं कर पाए। एक तरह से प्रायश्चित भी उनकी ऐसी रचना है, जिसमें वे नाट्याभ्यास करते हुए दिखाई देते हैं।

दृश्य-परिकल्पना, संवादों के वाक्य-संयोजन तथा पद्यात्मक पंक्तियों की लय द्वारा जिस प्रकार का नाटकीय रूप बना है, वह पारसी नाटकों के रंग-विधान के अधिक नज़दीक ठहरता है। इसलिए नाटककार ने पारसी नाटकों की तरह एक ही दृश्य में कई भावनाओं का अंकन किया है।

संपूर्ण नाटक की भूमिका

कल्याणी-परिणय

कल्याणी-परिणय (1912) में सिल्यूकस-पराजय एवं कार्नेलिया-चंद्रगुप्त-विवाह के प्रसंगों को आधार बनाकर नाटककार ने देश की सुरक्षा एवं उसके निष्कंटक बनाने के राजनैतिक उपायों का प्रश्न उभारा है। सिल्यूकस से मैत्री का प्रयास इसी प्रकार के उपायों का एक पक्ष है।

प्रसाद ने इस लघु नाटक का उपयोग चंद्रगुप्त के चतुर्थ अंक में किया है, पर नाटकीय स्थितियों और परिवेश की भिन्नता के कारण इनके मूल स्वरों में गहरा अंतर आया है। अपने विस्तृत चित्रफलक एवं परिवेश के कारण चंद्रगुप्त में ये प्रसंग नाटकीय बन गए हैं, जबकि इस नाटक में प्रसंगों के बीच का खालीपन भराव की मांग करता है। चंद्रगुप्त के चाणक्य का प्रखर व्यक्तित्व और कर्म की कठोर व्यावहारिकता कल्याणी-परिणय के चाणक्य में नहीं है। यहां पात्रों की परस्पर टकराहट या स्थितियों से पैदा होने वाले संघर्ष का तीव्र रूप नहीं मिलता। पात्रों के संवादों या स्वगत-कथनों द्वारा घटित हो चुकी या होने वाली घटनाओं पर उनकी प्रतिक्रियाएं और विचार सूचनात्मक ढंग से व्यक्त हुए हैं। चाणक्य एवं सिल्यूकस की राजनैतिक चालें नाटक की पृष्ठभूमि में रह गई हैं। केवल चंद्रगुप्त की विजय एवं कार्नेलिया के साथ उसके विवाह के प्रसंग बड़ी तेजी के साथ नाटक के अंत की ओर बढ़ते हैं।

इस रचना में भारतेंदु के नाटकों की तरह पद्यात्मक प्रकृति-वर्णन, रूप-वर्णन तथा पारसी नाटकों की तरह तुकांत काव्य-पंक्तियों एवं संवादों का समावेश हुआ है। प्रारंभ में, परंपरागत शैली से हटकर, नए ढंग का नांदी-पाठ तथा अंत में भरत-वाक्य की तरह मंगलगान और संस्कृत नाटकों की तरह दृश्य के आरंभ में पद्यात्मक स्वगत द्वारा दृश्य-वर्णन भी है। किन्तु इन सबसे नाटक का रूप आकर्षक एवं सार्थक नहीं बनता। कथात्मक एवं सूचनात्मक अंशों के कारण सब कुछ सतही ढंग से घटित होता है। दृश्य-परिकल्पना, संवादों के वाक्य-संयोजन तथा पद्यात्मक पंक्तियों की लय द्वारा जिस प्रकार का नाटकीय रूप बना है, वह पारसी नाटकों के रंग-विधान के अधिक नज़दीक ठहरता है। इसलिए नाटककार ने पारसी नाटकों की तरह एक ही दृश्य में कई भावनाओं का अंकन किया है। जैसे, पांचवें दृश्य में पिता-पुत्री-संवादों में कोमलता, चंद्रगुप्त की वीरता, क्षमा, सिल्यूकस-कार्नेलिया का आत्म-सम्मान आदि भाव एक साथ प्रगट हुए हैं। इनसे भी किसी गहरे अर्थ की व्यंजना नहीं होती और न ही पारसी नाटकों की तरह उनका रूप दिलचस्प एवं नाटकीय बन सका है।

पद्यनाटक का प्रवेश

करुणालय

करुणालय (1913) प्रसाद का एकमात्र पद्यनाटक है, जो अतुकांत अरिल्ल मात्रिक छंद में लिखा गया है। अंग्रेजी में ब्लैंक वर्स तथा बांग्ला में अमित्राक्षर छंद में इस प्रकार की अनेक रचनाएं मिलती हैं। प्रसाद ने, करुणालय के अतिरिक्त, केवल राज्यश्री के पद्यात्मक संवादों में इस छंद का प्रयोग किया था, किन्तु द्वितीय संस्करण में इन अंशों को गद्य में परिवर्तित कर दिया। प्रसाद के समय बंगाल में गिरीशचंद्र घोष, द्विजेंद्रलाल राय एवं रवींद्रनाथ ठाकुर के पद्यनाटक अभिनीत हो रहे थे। वे इनकी रचनाओं से परिचित थे। फिर भी करुणालय में स्थूल कथा का इस प्रकार समावेश हुआ है कि प्रस्तुत रचना सशक्त पद्यनाटक का रूप धारण नहीं कर सकी। स्वयं प्रसाद ने कहा है : हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा... इसी विचार से उन्होंने इस नाटक में 'तुकांत-विहीन मात्रिक छंद' का प्रयोग करके देखा है।

इस रचना के पौराणिक कथानक में गीता के कर्म-योग तथा ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण की कई पंक्तियों को देखा जा सकता है। अंत में, 'अहिंसा' और 'करुणा' से भरा हुआ मानवता का संदेश भी है।

> करुणालय केवल वैदिक-काल की यज्ञ-प्रथा में बलि-कर्म जैसे आनुष्ठानिक कार्यों की क्रूरता तक ही सीमित न रहकर, निम्न वर्ग के शोषण की कहानी बन जाता है। प्रसाद इस विचारधारा का समावेश करते हुए भी व्यक्ति और परिवेश का तीखा द्वंद्वात्मक चित्रण नहीं कर पाए।

इसके विपरीत धार्मिक कर्मकांडों की पृष्ठभूमि में उच्च वर्ग के कार्य-व्यापार एक षड़यंत्र में बदल गए हैं, जिसके माध्यम से वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए निम्न वर्ग का शोषण करते हैं। रोहित, विश्वामित्र, वशिष्ठ इसी उच्च वर्ग के विभिन्न पात्र हैं। रोहित अपनी रक्षा के लिए शुनःशेफ जैसे निरीह बालक को बलि के लिए खरीदता है। विश्वामित्र स्वयं महर्षि बनने के लिए सुव्रता जैसी सच्चरित्र नारी को भटकने के लिए अकेला छोड़ देता है। वशिष्ठ राजकीय प्रभाव में आकर तथा स्वयं को महत्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए शुनःशेफ की क्रूर बलि को उचित सिद्ध करता है। रोहित और वशिष्ठ अनुकूल नियमों और तर्कों का जाल बिछाकर अपने को सुरक्षित रखते हैं। शुनःशेफ की बलि देने के लिए अजीगर्त को तैयार करना इस उच्च वर्ग का ऐसा षड़यंत्र है, जिसमें वह निम्न वर्ग द्वारा ही एक घृणित कार्य को सम्पन्न कराना चाहता है। इस प्रकार करुणालय केवल वैदिक-काल की यज्ञ-प्रथा में बलि-कर्म जैसे आनुष्ठानिक कार्यों की क्रूरता तक ही सीमित न रहकर, निम्न वर्ग के शोषण की कहानी बन जाता है। प्रसाद उपर्युक्त विचारधारा का समावेश करते हुए भी इस नाटक में व्यक्ति और परिवेश का तीखा द्वंद्वात्मक चित्रण नहीं कर पाए। उन्होंने रोहित, विश्वामित्र, हरिश्चंद्र तथा अजीगर्त को प्रथम साक्षात्कार के बाद जिस मोड़ पर छोड़ा है तथा उनके जिन पक्षों को उद्घाटित किया है, उनसे इन पात्रों द्वारा बनाया गया पूर्व-प्रभाव धूमिल और अविश्वसनीय बन गया है। इसलिए नाटक पौराणिक कथा-जाल की स्थूलता में ही उलझा रह जाता है।

प्रारंभ में, रोहित को विविध भाव-स्थितियों में दिखाकर प्रसाद युवा-विद्रोह का एक पक्ष सामने लाते हैं। नाटक के दूसरे दृश्य में जब रोहित 'स्वत्व' के प्रति सजग होकर, अपने जीवन को 'सार्वजनिक संपत्ति' मानने से इनकार करता हुआ, विद्रोही स्वर उभारता है, यहां उसका चरित्र प्रभावित करता है, परन्तु जब वह 'धर्म की रक्षा' या 'तिलोदक पिंड' देने की ओट में अजीगर्त से शुनःशेफ को बलि देने के लिए खरीदता है तो वह उस शोषक वर्ग की भूमिका ग्रहण कर लेता है, जो दूसरों के जीवन को बिकाऊ वस्तु मानकर उसका मनचाहा उपयोग करता है। इसीलिए रोहित के स्वगत कथनों में 'स्वत्व' की ज़ोरदार घोषणा (2, 17-18) तथा विस्तीर्ण 'कर्म-मार्ग' का संदेश (2, 19-20) खोखला और निरर्थक लगता है। इसी बिन्दु पर नाटक की समस्त वैचारिक पृष्ठभूमि चरमरा कर नष्ट हो जाती है। देखा जाए तो द्वितीय दृश्य में यह स्पष्ट नहीं है कि इंद्र का संदेश किस 'कर्म-मार्ग' की ओर संकेत करता है या 'इच्छित फल' द्वारा वह किस लक्ष्य की ओर रोहित को प्रेरित करता है? क्या अपने को बचाने के लिए दूसरों के प्राणों की बलि देना ही उसका लक्ष्य है?

इस दृश्य की अंतिम पंक्तियों में 'सघन लता दल मिले... रम्य भवन अति दूर है' (2, 19-20) में 'सघन लता दल', 'शीतल जल का स्रोत', 'हिम के आसन', 'रम्य भवन' आदि से लगता है कि इंद्र रोहित को संघर्षों से दूर शांत वातावरण में जाने की प्रेरणा देना चाहता है। शायद इसीलिए रोहित, जीवन के संघर्षों से पलायन करता हुआ, केवल अपनी सुख-शांति की तलाश का दूसरों को माध्यम बनाता है। गीता के 'कर्म-योग' की पवित्र भावना इस संदेश में कहीं नज़र नहीं आती। 'क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर' (2, 17) कहकर, परंपरा से विद्रोह करने वाला तथा 'रुके कर्म-पथ' में न कभी यह भीत हो' (2, 20) कहकर, संघर्ष को सार्वजनिक संपत्ति समझता है, तब उसके चरित्र की यह असंगति नाटक की समस्त दृश्यात्मक परिकल्पना को कमज़ोर ही नहीं बनाती, निरर्थक भी सिद्ध करती है।

इसी प्रकार विश्वामित्र द्वारा कर्मकांड की कटु आलोचना उस समय अपनी विश्वसनीयता खो बैठती है, जब यह पता चलता है कि वह स्वयं महर्षि बनने के लिए सुव्रता को असहायावस्था में छोड़कर चला गया था। ऐतिहासिक और नाटकीय दोनों दृष्टियों से हरिश्चंद्र जैसा सत्यवादी राजा प्रभावहीन लगता है, जब वह शुनःशेफ की बलि को चुपचाप स्वीकार कर लेता है। अजीगर्त का चरित्र मानवीय मूल्यों के नष्ट होने की ओर संकेत तो करता है, किन्तु उसके अभावग्रस्त जीवन का संघर्ष (3, 22) उस समय आरोपित लगता है, जब वह स्वयं शुनःशेफ को मारने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार नाटक के प्रमुख पात्र निरर्थक प्रसंगों में उलझने और अपने परिवेश से कटने के कारण अविश्वसनीय बन जाते हैं।

इसके विभिन्न दृश्यों में हरिश्चंद्र, रोहित, अजीगर्त, विश्वामित्र आदि के भावनात्मक द्वंद्व तथा भावुकता आदि पक्षों के केवल कथा-वृत्त स्पष्ट हुए हैं। प्रारंभ में हरिश्चंद्र की प्रतिज्ञा, रोहित की कर्म-भावना, अजीगर्त

काव्य के स्तर पर यह रचना इतनी कमज़ोर है कि इसका पाठ भी अधिक सार्थक नहीं लगता। अपने काव्य, संगीत एवं उभरते हुए सार्थक दृश्य-स्वरों के कारण, नाटक न होते हुए भी, कामायनी को कई बार खेला गया है और करुणालय पद्यनाटक होते हुए भी मंच पर कभी प्रस्तुत नहीं हुआ।

की गरीबी, शुनःशेफ के बिक जाने आदि से जो जिज्ञासा पैदा होती है, वह शुनःशेफ के जन्म और माता-पिता के मिलन की कथा में बदल जाती है। इस प्रकार के अंत में, बड़ी तेजी के साथ कई रहस्यों के उद्घाटन से रचना को अप्रत्याशित दिशा में मोड़कर प्रसाद ने उसको असहज बना दिया है। इसके अतिरिक्त, इतिवृत्तात्मकता के समावेश से कविता के भीतर से ऐसे दृश्यात्मक स्वरों, संगीत या लय का निर्माण नहीं हुआ, जो पात्रों के व्यवहार को सार्थक नाटकीय 'कार्य' में परिणत करके, नाटक को विकसित कर सके। यही कारण है कि दृश्यों के भीतर से न तो पात्रों की गतियों का नाटकीय रेखाचित्र उभर सका है और न ही ऐसी नाट्यस्थितियों का निर्माण हुआ है, जिनसे पात्रों की अनुभूतियों या भावनाओं का तीखा रूप ध्वनित हो सके। काव्य के स्तर पर यह रचना इतनी कमज़ोर है कि इसका पाठ भी अधिक सार्थक नहीं लगता। अपने काव्य, संगीत एवं उभरते हुए सार्थक दृश्य-स्वरों के कारण, नाटक न होते हुए भी, कामायनी को कई बार खेला गया है और करुणालय पद्यनाटक होते हुए भी मंच पर कभी प्रस्तुत नहीं हुआ।

प्रस्तुत नाटक में नौका-विहार, आकाश में गर्जना, नाव का स्तब्ध होना, सबका शक्तिहीन होना, शुनःशेफ के बंधन का खुल जाना, झपटती हुई सुव्रता का प्रवेश, विश्वामित्र का अपने सौ पुत्रों के साथ प्रवेश आदि चमत्कारपूर्ण अतिनाटकीय दृश्य एवं नाट्य-युक्तियाँ किसी प्रकार के सार्थक नाटकीय प्रभाव अथवा रोमांच का निर्माण इसलिए नहीं कर सकीं, क्योंकि ये सभी दृश्य किसी नाटक की अपेक्षा कथा-कथन-शैली का अंग बनकर आए हैं। वर्णनात्मकता, अस्वाभाविक एवं गतिहीन दृश्य-परिकल्पना के कारण करुणालय एक ऐसी अनाटकीय संवादात्मक कविता बन गया है, जिसके पात्रों की, आज के संदर्भ में, व्याख्या नहीं की जा सकती। हिन्दी का प्रथम पद्यनाटक होने के कारण ही इसकी बार-बार चर्चा होती रहती है।

नए नाट्य-रूप की तलाश

राज्यश्री

राज्यश्री (1915) तक पहुंचकर प्रसाद ने नाटकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता और संरचना के बारे में एक निश्चित दिशा निर्धारित करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि जहां राज्यश्री के प्रथम संस्करण में नांदी तथा सज्जन में अतुकांत पद्यात्मक संवाद मिलते हैं, वहाँ दूसरे संस्करण में इन सबको हटाकर उन्होंने नए प्रसंगों और पात्रों के द्वारा रचना को सुगठित बनाने का प्रयास किया है। इसके 'प्राक्कथन' में उन्होंने कहा है : ''इस रूपक का उद्देश्य है राज्यश्री का चरित्र-चित्रण।'' किन्तु उन्होंने नए संस्करण में जिन पात्रों और प्रसंगों का समावेश करके नाटक को विस्तार दिया है, उनसे राज्यश्री का चरित्र अर्थपूर्ण दृश्य-संभावनाओं के साथ प्रस्तुत नहीं होता।

ऐसा नहीं है कि राज्यश्री के उज्जवल चरित्र के रेखांकन में अन्य संभावनाएं नहीं बन सकती थीं, मगर प्रसाद ने जिस रूप में, हर्षकालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थितियों का अंकन करते हुए, उसके चरित्र को उभारने का प्रयास किया है, उससे नाटक की बाहरी रूपरेखा में सत्-असत्, धर्म-अधर्म और हिंसा-अहिंसा के संघर्ष की स्थूल रेखाएं बनी हैं। इस अराजक स्थिति में राज्यश्री की क्या भूमिका रही है, उसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता। इसीलिए, अंत में, विश्व-मानवता का संदेश प्रसारित करने वाला उसका चरित्र विश्वसनीय नहीं बन सका। वैसे, नाटक से यह भी ध्वनित होता है कि लोक-सेवा के लिए राज्य से भागना उचित नहीं है। यही बात अपने ढंग से स्कंदगुप्त नाटक में भी मिलती है। जबकि इस नाटक में उन नाटकीय स्थितियों का निर्माण नहीं हो सका, जो राज्यश्री के चरित्र को गहरा रंग देतीं, इसीलिए राज्यश्री की चारित्रिक विशेषताएं, शब्दों की सीमाओं से बाहर निकलकर, उसके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं बनतीं।

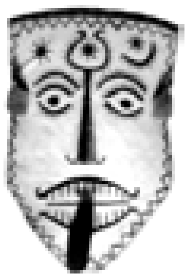

नाटककाकर ने गतिशीलता को सहज बनाने के लिए नाटक के द्वितीय संस्करण में कई परिवर्तन किए हैं, पर इनके बावजूद नाटक में विविधता नहीं आई। नाटक, धीमी गति से चलता हुआ, ऐसा परिवर्तनशील रूपांकन नहीं करता, जिससे रचना अधिक आकर्षक बन सके। इसका सबसे बड़ा कारण है कि नाटककार विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं एवं तथ्यों के बीच ऐसे संबंध-सूत्र नहीं खोज पाया, जिनसे सशक्त नाटकीय रचना का

राज्यश्री के लिए सब कुछ करने वाला शांतिदेव, उसे प्राप्त करके भी, दूसरों के हाथ क्यों जाने देता है और स्वयं किसलिए नरेंद्रगुप्त का मोहरा बन जाता है? शांतिदेव हमेशा किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहता है, किन्तु वह कोई भी कार्य क्यों करता है, इसके ठोस कारण प्रस्तुत नहीं हुए।

निर्माण हो सके। नाटक की कई घटनाएं अनावश्यक लगती हैं और कई आवश्यक घटनाओं को सूच्य बनाने के कारण मंच पर प्रस्तुत प्रसंगों को ठोस आधार नहीं मिला। फलस्वरूप, राज्यश्री में मानवीय तथा सांस्कृतिक मूल्यों की टिप्पणियां तो अवश्य मिलती हैं, परन्तु ये टिप्पणियां नाटक का सहज रूप धारण नहीं करतीं। इसीलिए राज्यश्री के चरित्र की उदारता सहज और विश्वसनीय नहीं लगती।

संपूर्ण नाटक तीन धरातलों पर चलता है- राज्यश्री का त्यागमय और क्षमाशील चरित्र; शांतिदेव, सुरमा और देवगुप्त की प्रेमकथा; देवगुप्त एवं नरेन्द्रगुप्त के षड्यंत्र तथा राज्यवर्धन और हर्ष द्वारा प्रतिशोध एवं राज्य की रक्षा। इनका विश्लेषण करते हुए, रचना की मूल प्रकृति को जानने का प्रयास करें तो स्पष्ट होता है कि प्रारंभ में राज्यश्री के दो रूपों की ओर संकेत किया गया है- पति-परायण स्त्री और युद्ध से न डरने वाली क्षत्राणी।

नाटककार ने, इन बिन्दुओं को विस्तार देने की अपेक्षा, राज्यश्री को बार-बार मूर्च्छित होने वाली या प्रलापावस्था में दिखाकर, उसे संकटों से घबराने वाली नारी के रूप में चित्रित किया है। राज्यश्री के अपहरण तक के प्रसंगों में स्वाभिमान के लिए संघर्ष करने वाली तेजस्वी नारी का नहीं, असहाय, दुर्बल नारी का रूप अधिक उभरता है। यहां तक कि बाक़ी प्रसंगों में भी उसके व्यक्तित्व में करुणा के साथ विराग की जो धारा सम्मिलित है, उसकी रेखाओं को भी गहरा नहीं किया गया। इसीलिए बौद्ध-संघ में जाने की उसकी इच्छा या चिता में जलकर मरने की आकांक्षा में विराग की अपेक्षा संघर्षों से पलायन करने वाला नारी-रूप व्यंजित हुआ है। अंतिम दृश्यों में अपना सब कुछ दान करने वाले प्रसंग, आरोपित होने के कारण, उसके व्यक्तित्व में कुछ अतिरिक्त नहीं जोड़ते।

यद्यपि नाटक की रूपरेखा में विषमताओं का सामना करने वाली और अपनी दुर्बलताओं से उभरती हुई राज्यश्री के नाटकीय चित्रण के लिए कई अवसर थे, किन्तु अनेक घटनाओं और तथ्यों का वर्णन करने के मोह में उसका चरित्र उपेक्षित रह गया है। इसकी अपेक्षा देवगुप्त, शांतिदेव जैसे लंपट प्रेमियों द्वारा उसके अपहरण के प्रसंग प्रमुख हो गए हैं।

राज्यश्री कुल नौ दृश्यों (1/2, 5, 7, व 2/4, 6;3/2, 5;4/2,4) में उपस्थित होती है। नाटक के सभी प्रमुख पुरुष पात्र-ग्रहवर्मा, हर्ष, देवगुप्त, शांतिदेव-राज्यश्री के चारों तरफ घूमते हैं। इन पात्रों का अपना अलग-अलग रूप है, किन्तु राज्यश्री के चरित्र को उभारने या नाटक को चरम परणति तक पहुंचाने में ये पात्र सहायक नहीं बनते। इसके विपरीत गौण पात्रों में से शांतिदेव और सुरमा अलग-अलग पात्रों के साथ बारह दृश्यों में (1/2,3,5,6;2/1,2,5,6;3/1,4;4/1,3) आते हैं। विशेष रूप से, शांतिदेव, सुरमा एवं देवगुप्त द्वारा प्रेम का जो त्रिकोण बना है, उसमें तीनों पात्र एक-दूसरे से जुड़ते हैं। ये पात्र जिस रोमांटिक वातावरण का निर्माण करते हैं, उससे नाटक की गति बनती है। इनके बिना सारा नाटक ऐतिहासिक प्रसंगों का वर्णनात्मक ढाँचा लगता है। हालांकि इनके बारे में भी कई प्रश्न उठाए जा सकते हैं। जैसे, ऐसी कौन-सी स्थितियां थीं, जिनके कारण देवगुप्त कान्यकुब्ज पर आक्रमण करता है और सुरमा को प्राप्त करता है? राष्ट्रीय स्तर पर षड़यंत्र करने वाला यही देवगुप्त विकटघोष (शांतिदेव) से डरकर क्यों भाग जाता है? इसी प्रकार शांतिदेव की राज्यश्री के प्रति आसक्ति, भिक्षु का बाना छोड़कर दस्यु-रूप धारण करना, उसके द्वारा राज्यवर्धन की हत्या या सुएनच्वांग की बलि के प्रयास आदि में कार्य-कारण संबंधों का ठोस आधार नहीं मिलता। राज्यश्री के लिए सब कुछ करने वाला शांतिदेव, उसे प्राप्त करके भी, दूसरों के हाथ क्यों जाने देता है और स्वयं किसलिए नरेंद्रगुप्त का मोहरा बन जाता है? शांतिदेव हमेशा किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहता है, किन्तु वह कोई भी कार्य क्यों करता है, इसके ठोस कारण प्रस्तुत नहीं हुए।

इन प्रश्नों के बावजूद शांतिदेव और सुरमा इतने महत्वपूर्ण हो गए हैं कि प्रत्येक अंक का प्रारंभ इन्हीं पात्रों द्वारा हुआ है। अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने की प्रक्रिया में इनके पतन का चित्रण ऐसे सामान्य व्यक्तियों के पतन का चित्र है, जो मूलतः बुरे नहीं होते। अपनी दमित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए, अनिश्चित रास्तों पर चलते हुए, ये पात्र अनचाही स्थितियों का सामना करते हैं और अंत में अपने गलत निर्णयों को पहचान लेते हैं। इन स्थितियों में उनकी मनःस्थितियों और कार्य-व्यापारों द्वारा जो रूप उभरता है,

नाटककार ने पैंसठ पृष्ठों के इस छोटे-से नाटक में लगभग अट्ठाईस पात्रों और बाईस दृश्यों की योजना की है। जैसा कि कहा जा चुका है, इनमें से अधिकांश पात्रों और दृश्यों की योजना की है। इनमें से अधिकांश पात्रों और दृश्यों का तर्कसंगत निर्वाह नहीं हो सका।

वह मुख्य कथानक की अपेक्षा अधिक नाटकीय बना है। विशेष रूप से, प्रसाद ने सुरमा के संवादों द्वारा उभरने वाले स्वरों से जिस प्रकार उसका व्यक्तित्व उभारा है, वैसा राज्यश्री के संदर्भ में नहीं कर पाए। एक-दूसरे का इस्तेमाल करने वाले शांतिदेव एवं सुरमा की आकर्षक भूमिका के कारण नाटक की केंद्रीयता राज्यश्री के हाथों से फिसलकर इन गौण पात्रों के पास चली जाती है।

इन कथाओं के अतिरिक्त राज्यवर्धन, नरेंद्रगुप्त, हर्षवर्धन एवं सुएनच्वांग से संबंधित अंतर्कथाएं प्रस्तुत हुई हैं, जिनका मूल कथानक से कोई सीधा संबंध नहीं है। इनसे संबंधित दृश्यों में प्रस्तुत ऐतिहासिक प्रसंगों या तथ्यों में कार्य-कारण संबंधों का अभाव व्यर्थ की जिज्ञासाएं पैदा करता है। ग्रहवर्मा किस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ? प्रभाकरवर्धन के निधन की सूचना का क्या अर्थ है? राज्यवर्धन हूणों से युद्ध के लिए क्यों जाता है? उसे राज्यश्री के संबंध में सूचना किस प्रकार मिली? जिससे वह प्रतिशोध के लिए अपनी सेना भेजता है। गौड़राज नरेंद्रगुप्त राज्यवर्धन से मैत्री क्यों रखना चाहता है? और, बाद में षड्यंत्र से राज्यवर्धन की हत्या क्यों करवाता है? पुलकेशिन और हर्ष के बीच युद्ध क्यों होता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सूच्य दृश्यों द्वारा नाटककार प्रस्तुति-संबंधी कई कठिनाइयों से बच गया है। किन्तु मंच पर जो घटनाएं प्रस्तुत होती हैं उनकी नाटकीय पृष्ठभूमि से पाठक या दर्शक अपरिचित रह जाता है। इसी कमी के कारण घटनाओं के अचानक हो जाने से या कुछ पात्रों के अचानक आ जाने से जो उलझाव पैदा होता है, उससे अपेक्षित प्रभाव नहीं बन पाया। यही प्रस्तुत होने को सूच्य रखने से देवगुप्त के वे षड्यंत्र और उद्देश्य परदे के पीछे ही रह गए, जिनसे नाटक का प्रारंभ हुआ था।

मंच पर होने वाली घटनाओं में से, शांतिदेव और सुरमा के प्रसंगों के अतिरिक्त, देव का छद्मवेश में कान्यकुब्ज आना, राज्यश्री का बंदी होना, देवगुप्त की मृत्यु, राज्यश्री का बंदीगृह से मुक्त होना, उसके द्वारा सती होने का प्रयास तथा दान-महोत्सव जैसे कुछ कथांश अवश्य स्पष्ट हुए हैं। पर मंच पर प्रस्तुत होने वाली वे घटनाएं इतनी तेजी के साथ घटित हुई हैं कि पाठक या दर्शक जब तक पहली घटना के कारणों अथवा संबंधों के बारे में सोच पाए, उससे पहले ही दूसरी घटना सामने आ जाती है। जैसे, प्रथम अंक के ग्यारह पृष्ठों के भीतर सात दृश्यों की योजना मिलती है। इसमें ग्रहवर्मा का मृगया के लिए जाना, राज्यश्री द्वारा दान, देवगुप्त का कान्यकुब्ज आना, उसका सुरमा के पास ठहरना, शांतिदेव का सुरमा को छोड़कर राज्यश्री को पाने का प्रयास, ग्रहवर्मा के घायल होने और फिर मृत्यु की सूचना, देवगुप्त के षड़्यंत्र और कान्यकुब्ज पर अधिकार, राज्यश्री को बंदी बनाना आदि ढेर सारी घटनाएं एवं सूचनाएं इतनी जल्दी-जल्दी प्रस्तुत होती हैं कि पाठक (दर्शक) इन घटनाओं के जंगल में खो जाता है। दूसरी ओर राज्यवर्धन-नरेंद्रगुप्त तथा पुलकेशिन-हर्ष के बीच मैत्री-संवाद (2/3,3/3), राज्यवर्धन की सेना का राज्यश्री की सहायता के लिए आना (2/2), दस्युओं द्वारा सुएनच्वांग की बलि (3/4) देने के जो प्रसंग मंच पर दिखाए गए हैं, उनसे मुख्य कथानक के विकास में कोई सहयोग नहीं मिलता। कारण, इन प्रसंगों से संबंधित पात्र थोड़ी देर के लिए ही अपनी अधूरी रेखाओं में आए हैं। इनसे न तो नाटक की आंतरिक गति को ठोस आधार मिल सका है और न ही इन पात्रों की मंच पर उपस्थिति सहज तथा स्वाभाविक लगती है। वास्तव में, ऐसे प्रसंगों या पात्रों के होने या न होने का कोई ठोस कारण प्रस्तुत नहीं किया गया और न ही उनकी उपस्थिति से ऐसे संघर्ष या वातावरण का निर्माण हुआ है, जो राजनैतिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में राज्यश्री की चारित्रिक विशेषताओं को गहरा रंग दें। एक सीमा तक हर्ष सामाजिक-राजनैतिक मर्यादा के बीच राज्यश्री को प्रतिष्ठित करता है। किन्तु जिस तरह वह नाटक के बीच (3/3) अचानक प्रवेश करता है, उससे केवल ऐतिहासिक तथ्यों को ही सामने लाता हुआ प्रतीत होता है, नाटकीय ज़रूरतों को पूरा नहीं करता।

नाटककार ने 65 पृष्ठों के इस छोटे-से नाटक में लगभग 28 पात्रों और 22 दृश्यों की योजना की है। जैसा कि कहा जा चुका है, इनमें से अधिकांश पात्रों और दृश्यों की योजना की है। इनमें से अधिकांश पात्रों और दृश्यों का तर्कसंगत निर्वाह नहीं हो सका। दूसरी ओर, नाटक का अधिकांश हिस्सा शांतिदेव और सुरमा के लिए सुरक्षित रखा गया है और शेष स्थान सात गीतों ने ले लिए हैं। नाटकीय या काव्यात्मक दृष्टि से इन गीतों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। ये गीत न तो नाटक का हिस्सा बनते हैं और न ही पात्र या स्थिति-विशेष

के किसी पक्ष की ओर संकेत करते हैं। फलस्वरूप, राज्यश्री के चारित्रिक विकास के लिए कोई अवसर नहीं रहा, जिसके लिए इस नाटक की रचना की गई है।

इस नाटक में समानांतर कथाओं एवं पात्रों द्वारा नाटकीय विषमताओं को तीव्र रूप दिया जा सकता था। जैसे, एक ओर देवगुप्त, नरेंद्र गुप्त, शांतिदेव के संघर्ष और षड़यंत्र हैं तो दूसरी ओर राज्यश्री एवं हर्ष का त्याग और क्षमा है। यदि राज्यश्री 'स्त्री की मर्यादा, करुणा की देवी' (4/4, 7 4) है तो सुरमा 'यौवन, स्वास्थ्य और सौंदर्य की छलकती हुई प्याली' (2/6, 42) है। एक ओर प्राणों की बाजी लगाने वाला सुएनच्वांग है तो दूसरी ओर उसकी बलि देने वाले शांतिदेव में पशुत्व प्रमुख है। राज्यश्री, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन लोकमंगल की कामना के लिए कुछ भी त्याग कर सकते हैं और उसके विरोध में देवगुप्त, शांतिदेव और नरेंद्र गुप्त जैसे चालबाज़ व्यक्ति भी हैं, जिनकी भ्रष्टता की कोई सीमा नहीं। देवगुप्त राजकुमार होते हुए भी साधारण मालिन सुरमा को रानी बनाता है और शांतिदेव जैसा साधारण भिक्षु रानी राज्यश्री को प्राप्त करने की कोशिश करता है। अपनी कमज़ोर परिकल्पना के कारण इन पात्रों या प्रसंगों द्वारा नाटकीय विषमता का आकर्षक रूप नहीं बन सका, न ही किसी अर्थ को उभारने में ये सहायक हुए हैं।

नाटककार ने दृश्यों के लिए संख्या का प्रयोग करके एक ही कथांश का विकास संकेतित करना चाहा है, किन्तु विभिन्न घटनाओं या प्रसंगों को चित्रित करने वाले छोटे-छोटे दृश्य नाटक को विभिन्न दिशाओं की ओर ले जाते हैं। फलस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक उलझनों के दृश्य ठोस आधार ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार चौथे अंक में, सब विरोधों का शमन करते हुए राज्यश्री की चारित्रिक विशेषताओं को रेखांकित करने वाले दृश्य विश्वसनीय नहीं बन सके। घटनाओं के पूर्वाभास या रोमांचक वातावरण के लिए मंदिर में अट्टहास, राज्यश्री के मूर्च्छित होने, सुएनच्वांग की बलि के समय विकट नृत्य एवं आंधी के साथ अंधकार का फैलना आदि अतिरंजित दृश्य या पात्रों के 'सहसा प्रवेश' जैसी नाटकीय युक्तियों का प्रयोग भी किसी प्रकार का आकर्षण पैदा नहीं कर सका। वास्तव में, घटनाओं के जाल में उलझने के कारण प्रसाद के लिए यह निश्चित करना मुश्किल हो गया कि प्रत्येक पात्र या प्रसंग की नाटकीय भूमिका क्या है? इसीलिए कई अनावश्यक प्रसंग मंच पर आ गए हैं। मंच पर प्रस्तुत प्रसंगों की असंबद्धता, अनावश्यक विस्तार और ठोस आधार के अभाव में पात्रों एवं स्थितियों के बीच ऐसी संगति का निर्माण नहीं हो सका, जिससे राज्यश्री के चरित्र या सांस्कृतिक महत्ता के दृश्य सार्थक बन सकें। अभिनेता की दृष्टि से देखें तो इस नाटक में बहुत कुछ शब्दों में ही वर्णित रह गया है। परिणामतः, क्षमा, त्याग और मानवता का संदेश आरोपित लगता है। इन शिल्पगत कमज़ोरियों के होते हुए भी प्रसाद के नाटक-लेखन में राज्यश्री का अपना महत्व है। इसमें पहली बार प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्यों की गहरी छान-बीन के बाद उनका उपयोग किया है। इसीलिए उन्होंने इसे अपना 'प्रथम ऐतिहासिक रूपक' कहा है। समानांतर कथाओं द्वारा विरोधी प्रकृति के पात्रों को एक-दूसरे के सामने रखकर उन्हें उभारने वाला यह पहला नाटक है। प्रसाद ने पहली बार राजनैतिक उथल-पुथल और धार्मिक अनाचारों की पृष्ठभूमि में पात्रों के भीतरी मूल्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः, इसी नाटक में वह नाट्य-रूप पहली बार उभरता है, जिसका विकसित रूप स्कंदगुप्त या चंद्रगुप्त जैसे नाटकों में सार्थकता प्राप्त करता है।

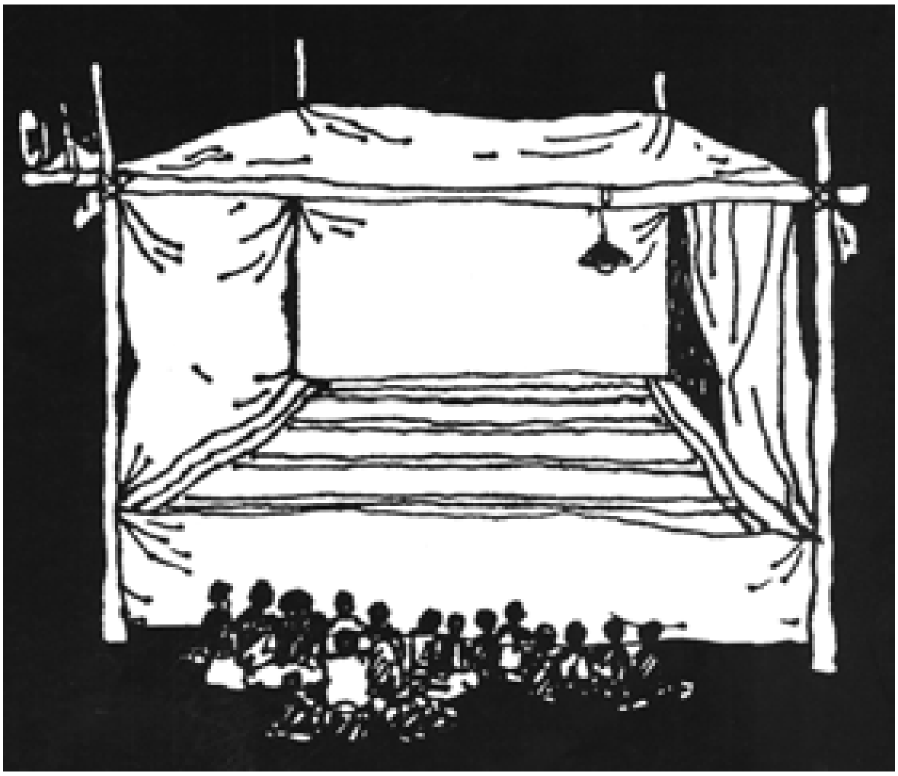

किशोर उमरेकर

भारतीय संस्कृति और भारतीय प्राचीन साहित्य में व्यास रचित 'महाभारत' का स्थान हमेशा गरिमापूर्ण रहा है। इस एक ग्रंथ में जितना कुछ समाया है वह अभिभूत कर देता है। महाभारत में स्वयं वेदव्यास ने कहा है- 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में, हे भरतश्रेष्ठ! जो यहाँ है वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं, वह कहीं भी नहीं।' (धर्म चार्थ च कामे च मोक्ष च भरतषेभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।)

रणभूमि का 'जय उत्सव'

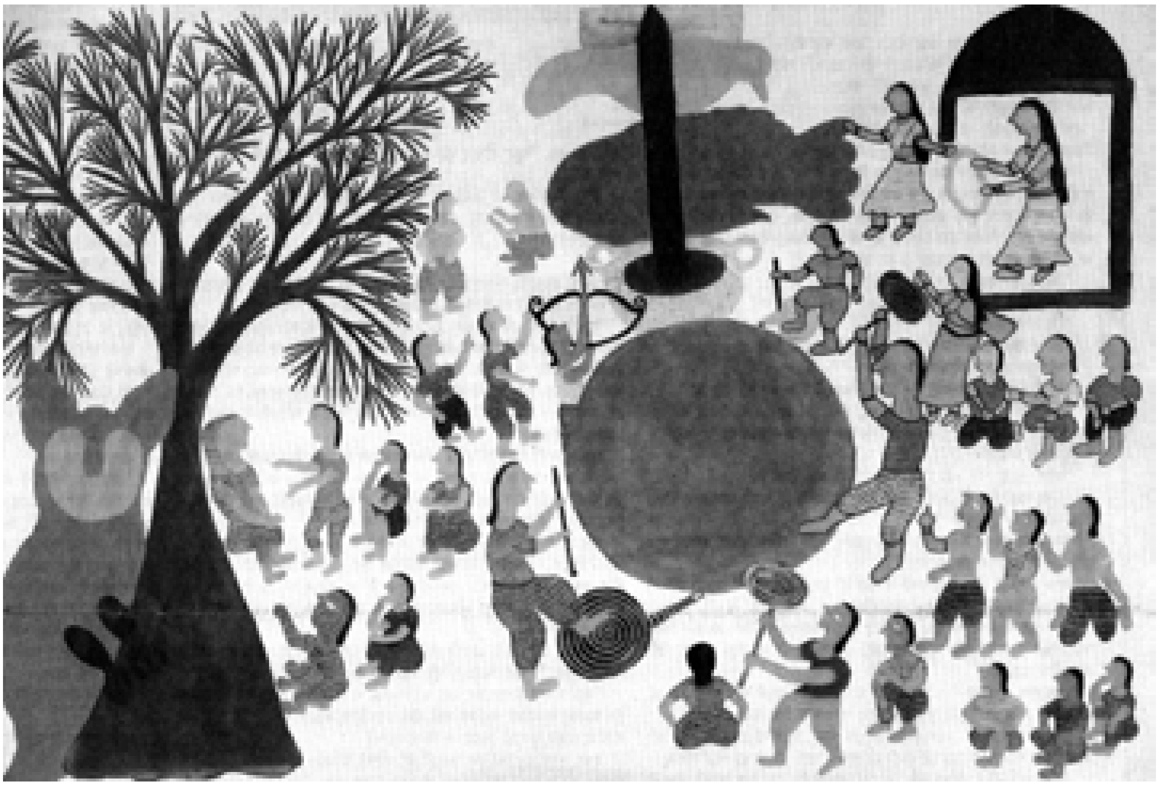

दिल्ली के इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के जनपद संपदा प्रभाग ने 'जय उत्सव' का आयोजन किया था। यह उत्सव एक महीने तक चला था। पूरे भारत में महाभारत की कथावस्तु किसी न किसी रूप में पाई जाती है। अभी भी इस पर कथासाहित्य, काव्य, नाटक रचे जाते हैं, लोक, शास्त्रीय और समकालीन नृत्यों और नाटकों का गाँवों और शहरों में मंचन होता है। दृश्य चित्रों और मूर्तियों में, स्थापत्यों एवं हस्तशिल्पों में महाभारत लोकप्रिय विषय रहा है। देश के कई स्थान वन, भवन, चट्टान, जल-कुंड, गुफाएं, पत्थर के टुकड़े तक पांडवों और कौरवों की गाथाओं से जुड़े हैं। इस जीते-जागते महाभारत के विविध रूपों को विभिन्न माध्यमों द्वारा 'जय उत्सव' में प्रस्तुत किया गया था। संपूर्ण आयोजन की संकल्पना की थी जनपद संपदा कोष की अध्यक्ष प्राध्यापक मौली कौशल ने। उनके साथ कार्यक्रमों की निर्देशिका थीं डॉ. सुकृता पॉल कुमार।

'जय उत्सव' एक प्रभावशाली आयोजन था। इसमें महाभारत से जुड़े लोकनृत्य और लोकनाटक हो रहे थे, विधि-विधान और अनुष्ठान भी हो रहे थे। हस्तशिल्पों को बनाने वाले कारीगर देश के विभिन्न प्रांतों से आए थे। वे वस्तुएँ बना रहे थे और बेच भी रहे थे। 'भीम की रसोई' नाम की जगह पर खाने पीने का प्रबंध था। इसी के साथ अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद चल रहा था जिसमें विद्वानों और कलाकारों ने एक साथ हिस्सा लिया। महाभारत पर बनी हुई फिल्में भी दिखाई गईं। समकालीन लेखकों और कवियों की बैठकें हुईं। केरल के मूर्धन्य लेखक एमटी वासुदेवन नायर के उपन्यास पर आधारित 'भीमपर्वम्' नाटक, ओडीशा का परंपरागत 'प्रल्लाद नाटक', 'गंगापुत्र भीष्म' नामक नृत्य-नाटिका पश्चिम

बंगाल की जात्रा शैली में, कथकली शैली में 'नलचरितम्', मणिपुरम से 'अभिमन्यु' तो वृंदावन से नौटंकी, महाराष्ट्र का लावणी नृत्य और राजस्थान के मांगणियार और मेवात जोगी का गीत-संगीत, हिमाचल के गद्दियों का कथा-वाचन, उत्तराखंड की 'पांडवलीला', छत्तीसगढ़ का 'पंडवानी', हिमाचल प्रदेश का 'ठोड़ा' नृत्य, असम का 'ओजापाली' और अन्य कई प्रस्तुतियाँ लगातार एक महीने तक होती रहीं।

महाभारत में ऐसा क्या है कि वह एक अमर ग्रंथ बन गया है? भारत में 'रामायण' तो घर-घर में पढ़ा जाता है, लेकिन 'महाभारत' का वाचन केवल सार्वजनिक स्थानों पर होता है। इस संबंध में एक मान्यता ऐसी है कि अगर 'महाभारत' घर में पढ़ा जाएगा तो घर में झगड़े होने लगेंगे। घर ही कुरुक्षेत्र हो जाएगा।

'महाभारत' को कई विद्वानों ने पाँचवा वेद कहा है। अक्सर पूछा जाता है कि कौरवों और पांडवों की कहानी ऐतिहासिक है या फिर आध्यात्मिक है। स्वयं वेदव्यास कहते हैं, 'जयो नामेतिहासः अयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।' यानी (युद्ध में) जो विजय की इच्छा रखते हैं उन्हें जय नामक यह इतिहास पढ़ना चाहिए।

व्यासमुनि ने राजा दुष्यंत और उनकी पत्नी शकुंतला के पुत्र भरत की कहानी आठ हज़ार आठ सौ श्लोकों में लिखी और अपने पुत्र शुक को सुनाई थी। अन्य जिन चार विद्वान ऋषियों ने इसे सुना था वे थे सुमंतु, जैमिनी, पैल और वैशंपायन। कहा जाता है कि वैशंपायन ने 'जय' महाकाव्य एक 'सर्प सत्र' में सुनाया था। इस सर्प-यज्ञ का आयोजन पांडु पुत्र अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय ने किया था। वैशंपायन के इस संशोधित संस्करण में चौबीस हज़ार श्लोक थे। अब इस का शीर्षक 'जय' नहीं रहा। वह 'भरत' कहलाया। व्यास के शिष्य लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा ने उस सर्प-यज्ञ में वैशंपायन के मुख से भरत की कहानी सुनी। उन्होंने नैमिष वन में शौनक ऋषि द्वारा किए जा रहे अग्नि यज्ञ के समय यह महाकाव्य सुनाया। अग्नियज्ञ बारह वर्ष तक चलता रहा। उग्रश्रवा ने भरत की कहानी में कई आख्यानों और उपाख्यानों को जोड़ दिया। अब यह एक लाख श्लोकों का महाकाव्य बन गया जो 'महाभारत' कहलाया।

पंडवानी का गायक हाथ में तीन तारों का एक तंबूरा रखता है। यह तंबूरा कभी भीम की गदा बना जाता है, कभी धनुष तो कभी रथ।

भारत की कई भाषाओं में 'महाभारत' के अनुवाद, रूपांतरण, संक्षिप्तिकरण हुए हैं। 'महाभारत' के नाम से नितांत कई कृतियाँ भी बनी हैं, जिनमें एक महत्वपूर्ण उदाहरण है उड़ीसा के शूद्रमुनि सारलादास का ओड़िया भाषा में रचित 'सारला महाभारत'। पंद्रहवीं शताब्दी के ये शूद्रमुनि व्यवसाय से किसान थे। वे देवी सारला के भक्त थे इसलिए ख़ुद को सारला दास कहते थे। उन्होंने लोगों की बोलचाल की भाषा में, यानी आम जनता की ओड़िया भाषा में नया महाभारत लिखा। यह मूल संस्कृत का अनुवाद नहीं था। हालांकि मुख्य पात्रों के नाम वही रहने दिए थे, लेकिन अपने प्रदेश और परंपरा के अनुकूल, स्थानीय संदर्भों, उड़ीसा के तत्कालीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों और स्थानों को अपने महाभारत में विशेष स्थान दिया। पिछले पांच सौ वर्षों में 'सारला महाभारत' में भी इतना कुछ जुड़ गया है कि मूल लिखित ग्रंथ कौन सा था यह कह पाना मुश्किल है। उड़ीसा की कई लोककथाएं और वीरगाथाएं इस में सम्मिलित हैं। महाभारत के कुछ पात्रों का व्यवहार समझाने के लिए वे समाज में प्रचलित लोककथाओं का उदाहरण देते हैं। और उड़ीसा की कुछ परंपराओं को वे महाभारत के साथ जोड़ देते हैं। इसका एक उदाहरण है कुंती और पांडु के दूसरे पुत्र भीम के जन्म की एक कहानी।

शतश्रृंग पर्वत पर वायुदेव की कृपा से कुंती ने भीम को जन्म दिया। उस समय अचानक बारिश हुई और पास के जंगल से एक बाघ भीम के पास आ पहुंचा। बाघ को देखकर डरी हुई कुंती पेड़ पर चढ़ गई। बाघ जैसे ही करीब आया, भीम का पैर उसके सिर पर लगा और वह वहीं ढेर हो गया। उसके बाद भीम के पैर की छोटी उंगली शतश्रृंग पर्वत से टकराई और पर्वत के हजार टुकड़े हो गए। शिशु भीम की इस हरकत से गुस्साए पर्वत ने भीम को श्राप दिया कि वह युद्ध में हार जाएगा। यह सुनकर पांडु और कुंती बहुत दुखी हुए। उन्होंने पर्वत से विनती की कि वह अपना श्राप वापस ले लें। शतश्रृंग ने कहा कि श्राप वापस तो नहीं लिया जा सकता लेकिन युद्ध के दौरान यदि भीम शतश्रृंग का स्मरण करेगा तो वह विजयी होगा। यह सुनकर कुंती संतुष्ट हुई और उसने आशीर्वाद देते हुए पर्वत से कहा कि उसके हज़ार टुकड़ों की लोग देवी-देवता के रूप में पूजा करेंगे। ग्रामीण देवी-देवताओं को महाभारत की एक घटना से जोड़कर सारला दास ने अपनी कल्पनाशक्ति और सृजनशीलता का परिचय दिया। संस्कृति महाभारत में राजधर्म और आर्यधर्म के महत्व की बात की गई है, पर सारला महाभारत में लोकधर्म की बात है। अपनी कृति को लोकानुकूल बनाने के लिए शूद्रमुनि ने कई तात्विक चर्चाओं को निकाल दिया है। जैसे कि संस्कृत महाभारत में एक जगह पर यक्ष युधिष्ठिर से 123 प्रश्न पूछते हैं। सारला दास ने लोगों की रुचि को ध्यान में रखकर केवल 20 प्रश्नों को अपने महाभारत में सम्मिलित किया है। कश्मीर के बहुशास्त्रज्ञ क्षेमेंद्र ने सन् 1037 में संस्कृत महाभारत को संक्षिप्त करके संस्कृत में ही 'भरतमंजरी' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा। इस में एक लाख श्लोकों के स्थान पर केवल 10692 श्लोक थे। कहानी मुख्यतया मूल महाभारत की ही थी, कुछ घटनाओं का क्रम बदल दिया था।

कश्मीरी पंडित माघ मास के शुक्ल पक्ष की एकादश के दिन उपवास करते हैं और इसे 'भीम एकादशी' कहा जाता है। वे मानते हैं कि भीम कश्मीर में रहे थे। एक कथा के अनुसार भीमसेन ने स्वयं एक बार एकादशी का उपवास किया था, लेकिन पेटू भीम बिना खाए कैसे रह सकते हैं? आधी रात हुई कि वे खाना ढूंढने निकले। सभी का व्रत था। खाना कहीं भी नहीं बना था। तब भीम ग्वालों के घर गए और उन्होंने हांडियों में रखा सारा दूध पी लिया। फिर भी भूख नहीं मिटी। रात खत्म ही नहीं हो रही थी। सुबह की रोशनी का भ्रम पैदा करने के

लिए भीम ने पास के वन में जाकर दो चार पेड़ जलाए। प्रकाश देखकर लोगों को लगा कि द्वादशी का सूर्य उग चुका है। उपवास तोड़ा जा सकता है। भीम के इस कांड को देखकर श्रीकृष्ण खूब हँसे और भीम को भरपेट खाना खाते देखकर खुश हुए। कहा जाता है कि उस दिन से, यानी माघ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन से रात छोटी हुई है और दिन लंबा। भीमसेन की इस घटना को लेकर कश्मीरी भाषा में कई गीत रचे गए हैं। जम्मू में मनसर सरोवर के किनारे एक नागमंदिर है। कहा जाता है कि पांडवों के अज्ञातवास के दौरान अर्जुन यहां आए थे। उन्होंने नागकन्या उलूपि से विवाह किया था।

विनय रोहतगी

गढ़वाल-हिमालय के लोगों का मानना है कि इस प्रदेश में पांडवों का साम्राज्य था। जोशीमठ के पास पांडुकेश्वर में उनका जन्म हुआ था। पांडवों का जन्म, जीवन और अंत में स्वर्गारोहण भी इसी प्रदेश में हुआ था। इन मान्यताओं के कारण गढ़वाल में कई स्थान और स्थापत्य उनके नाम से जुड़े पाए जाते हैं। जैसे कि पांडों की चोरी (सपाट भूमि), पांडों का सेला (धान का खेत), पांडों की धार (ढलाई), पांडों की खोली (मकान) वगैरह।

पश्चिम हिमालय में पांडवों को बहुत अच्छा वास्तुकार और मूर्तिकार माना जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने शस्त्रों को छोड़कर छेनी और हथौड़ा अपनाया था और सारे प्रदेश में घूम घूमकर चट्टानों को काटकर, तराशकर मंदिर, मूर्तियां वगैरह बनाई थीं। हर कृति वे एक ही रात में बना डालते थे। गढ़वाल में जौनसर बावर का पूरा प्रदेश पांडव क्षेत्र कहा जाता है और हर की दून को कौरव क्षेत्र। नैटवार का राजा कर्ण माना जाता है। इस प्रकार यहां के लोगों के लिए महाभारत की कहानी अपने पूर्वजों की कहानी बन जाती है। नैटवार से कुछ किलोमीटर की दूरी पर एक गाँव में मुख्य मंदिर दुर्योधन का है। लाहुल और स्पिति प्रदेश में हिडिंबा के सात मंदिर हैं। हिडिंबा और भीम के पुत्र घटोत्कच का भी एक मंदिर है।

कौरवों और पांडवों के नाम से हिमाचल प्रदेश में एक प्रकार का युद्ध नृत्य होता है जिसे ठोड़ा कहते हैं। यह नृत्य धनुष बाणों से प्रस्तुत किया जाता है। खाशी राजपूत पांडवों का प्रतिनिधित्व करते हैं और पाशी कौरवों का। 'जय उत्सव' में ठोड़ा नृत्य लगभग हर रोज़ होता था। सारे नृत्य और नाटक लोक बोलियों में होते हैं। छत्तीसगढ़-गोंडवाना प्रदेश में महाभारत की कई घटनाएं घटी हैं। ऐसा माना जाता है वहां भीम, पांडों और कोरवा नाम की जनजातियां हैं। वहां की गोंड जाति के अंतर्गत परधन नामक जनजाति है, जिसने पंडवानी कथा की परंपरा शुरू की थी। पंडवानी में कौरव केवल इक्कीस हैं, सौ नहीं। पंडवानी का गायक हाथ में तीन तारों का एक तंबूरा रखता है। यह तंबूरा कभी भीम की गदा बना जाता है, कभी धनुष तो कभी रथ।

महाभारत में कुरुक्षेत्र रणभूमि है। आज यह 48 कोस लंबा और 40 कोस चौड़ा कुरुक्षेत्र 360 तीर्थस्थानों से घिरा है। यहां बाणगंगा-दयालपुर में कर्ण का रथ धरती में धंस गया था। भीष्म पितामह की शर-शय्या और युद्ध के समय घोड़ों को पानी पिलाने का कुंड भी यहाँ है।

तमिल में संस्कृत महाभारत के अनुवाद और रुपांतरण पाए जाते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर सन् 300 तक व्याप्त संगम साहित्य में महाभारत की कथा से लिए गए उद्धरण, उदाहरण, उपमेय इत्यादि मिलते हैं। ऐसा ही साहित्य मलयालम में भी है। कर्नाटक में 'महाभारत' के जो कन्नड़ संस्करण उपलब्ध हैं उनमें दसवीं शताब्दी के पंपा की और ग्यारहवीं शताब्दी के रन्ना की कृतियां अधिक प्रचलित हैं। ये दोनों जैन परंपरा से जुड़े हैं, जैन तीर्थंकरों ने महाभारत का लौकिक काव्य के रूप में उपयोग किया। उन्होंने अपने वर्तमान को इसके साथ जोड़ा। जैसा रन्ना अपने आश्रयदाता राजा इरिवबेड़ंगा के साथ भीम की तुलना करते हैं तो पंपा अपने ग्रंथ 'भरत' में चालुक्य साम्राज्य के उनके आश्रयदाता आरकसरा की तुलना अर्जुन से करते हैं। पंपा के ग्रंथ में दुर्योधन और कर्ण के प्रति अतीव सहानुभूति पाई जाती है। श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में नहीं, एक सच्चे मित्र और मार्गदर्शक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कर्नाटक के 'यक्षगान' में 'केरल और तमिलनाडु के 'कथकली' और 'कूड़ियट्टम' के मंचन में' आंध्र प्रदेश की हरिकथा में महाभारत से कई कथाएं ली गई हैं।

'महाभारत' की कहानियों के मुताबिक अर्जुन का विवाह मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा से हुआ था और उनका पुत्र बब्रूवाहन था। मणिपुर के 1936 में मंचित नाटक 'बब्रूवाहन' मणिपुर ड्रामेटिक यूनियन ने प्रस्तुत किया था। 2009 में उसी यूनियन ने 'अभिमन्यु' नाटक का मंचन किया। असम में भी महाभारत की कथाओं पर असमिया में पारंपरिक नाटक खेले जाते हैं। 'भाओना' नाट्यशैली में घटोत्कच पर्व मशहूर है।

जब तक हम महाभारत के बहुरूपी अस्तित्व को नज़दीक से नहीं जानेंगे तब तक उसके विराट को पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाएंगे।

'जनसत्ता' से

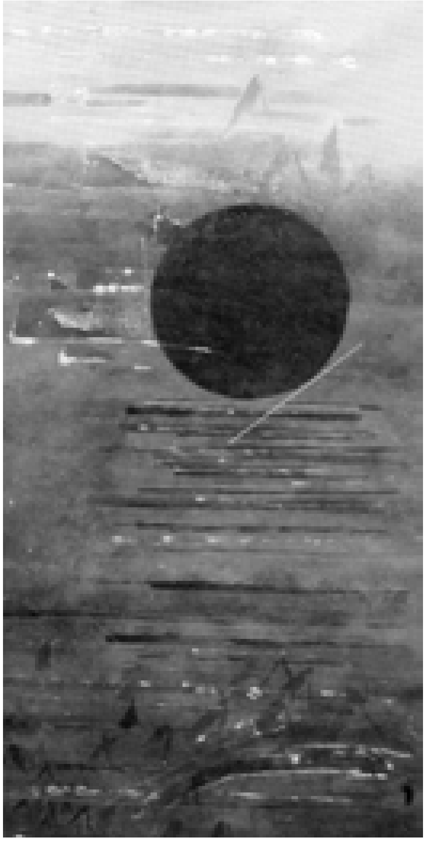

दुःख होता है यह देखकर कि मन तो हमारा पुकार रहा है- ''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये। एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।'' ...पर शायद आज का भारतीय लेखक अपने दायित्वों और अधिकारों को उतनी गंभीरता से ले नहीं रहा। विवेक की, साहस की, दृढ़ता की भाषा आज पूरे तेज के साथ कहीं दिख नहीं रही है।

कहाँ गया शब्द का हस्तक्षेप?

पुष्पा भारती

मनुष्य केवल शरीर और प्राण ही नहीं है। वह तो असंख्य मानसिक और हार्दिक संवेदनाओं के विविध और बहुआयामी स्तरों का संघात है। बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और हृदय की अनगिनत वृत्तियों में एक संतुलन और सामंजस्य बना लेने की भीतरी शक्ति तथा दुःख, सुख, उद्वेग और आनंद की एक विशिष्ट अनुभूति मनुष्य को शेष सृष्टि से भिन्न व श्रेष्ठ बना देती है। कह सकते हैं कि सृष्टि की सबसे अनुपम कृति है मनुष्य और इन मनुष्यों में जो सबसे अधिक विशिष्ट कोई होता है वह है साहित्यकार।

निर्विवाद सत्य है कि साहित्य सृजन का कार्य सभी नहीं कर सकते। साहित्यकार से अधिक विद्वान, अधिक संवेदनशील, अधिक कर्मठ मनुष्य भी हो सकते हैं पर ज़रूरी नहीं कि वे सभी साहित्य सृजन भी कर सकें। ये साहित्यकार कोई अतिमानव या अमानव नहीं होते। ये भी सामान्य मनुष्य की ही तरह जीवन के संवेगों और संवेदनाओं को जीते हैं। पर उनमें बस यही एक अलग, विशिष्टता होती है कि जीवन की तमाम हलचलों में जो एक अव्यक्त और गहरी हलचल होती है उसे भी वे पहचान लेते हैं। फिर अपने अनुभूत सत्यों को आधार बनाकर वे अनुभूत और अज्ञात सत्यों की खोज निरंतर करते रहते हैं। वे एक अजानी, आनंदमयी स्थिति और अप्राप्त लक्ष्य की ओर आस्था रखते हुए प्रयासरत रहते हैं। इसलिये उन्हें वह कुछ दिखता रहता है जो सामान्यजन नहीं देख पाता या देखकर भी समझ नहीं पाता। साहित्यकार अपने बौद्धिक और मानसिक स्तर से अंतर्जगत के राग-विराग को देख-समझ कर जिस काल्पनिक संसार का निर्माण कर लेता है वही कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, निबंध आदि बन कर प्रगट होता है। और यही साहित्य जब ऊर्ध्वमुखी होकर अपने चतुर्दिक के परिवेश से और ऊपर उठकर मानव मात्र के प्रति अपने विशिष्ट दायित्व का अनुभव करने लगता है तो एक अनोखी प्रेरणा से भरकर वह समय की छाती पर हस्तक्षेप करने की ताव पा जाता है। स्थापित मूल्यों और मानकों को चुनौती देने की सामर्थ्य भी उसमें आ जाती है इस तरह साहित्यकार नये सत्यों को उद्घाटित और स्थापित कर देता है।

यह हस्तक्षेप कभी तात्कालिक महत्व का बन पड़ता है और कभी तो इतना शक्तिशाली हो जाता है कि जिस रचना के द्वारा वह हस्तक्षेप करता है वह रचना इतनी बड़ी साबित होती है कि रचनाकार पीछे छूट जाता है और रचना विश्वव्यापी, सर्वजनीन और सर्वकालिक बन जाती है। भाषा और भौगोलिक दूरी भी कोई मायने नहीं रखती। रचना देश और भाषा की सीमायें लांघकर सारे विश्व के समय पर हस्तक्षेप करने लगती है।

उदाहरण के लिये आर्थर मिलर के अमरीकी व्यवस्था पर हस्तक्षेप करते 'ऑल माई सन्स' या 'डैथ ऑफ ए सेल्समेन' सारे संसार में कितने लोकप्रिय हो गये हमारे यहाँ तो इन नाटकों के दसियों रुपांतर हो चुके हैं। सैकड़ों बार रंगमंच पर ये खेले जा चुके हैं। इसी तरह पचासियों बरस पहले लिखा बर्नार्ड शॉ का 'पिगमेलियन माई फेयर लेड़ी' फिल्म बनकर सारी दुनिया में प्रदर्शित हुआ। हमारे यहाँ भी मराठी में 'ती फुलराणी' और गुजराती में 'संतू रंगीली' के रूप में ढलकर बरसों मंच पर छाया रहा। नार्वेजियन लेखक इब्सन के 'डॉल्स हाउस' के माध्यम से डोरा के द्वारा दरवाजा बंद करने की आवाज़ सारी दुनिया में गूँज उठी थी। और तो और दो ढाई हज़ार साल पहले लिखी ग्रीक त्रासदियाँ तो आज तक हस्तक्षेप करती चल रही है। सोफ़ोक्लीज़ के ऐंटेगनी में जब वह औरत अपने भाई की लाश देखकर कहती है कि लाश न तो देशद्रोही होती है न देशभक्त! लाश तो बस लाश होती है। तो क्या आज भी हम वर्तमान समय में उपजी अनेक समस्याओं के प्रति उसका हस्तक्षेप महसूस करके एक नयी दृष्टि नहीं पाते? 1700 साल पहले लिखे हमारे भारतीय नाटक 'मृच्छकटिकम्' की याद ज़रूर होगी आपको, उस पर बनाई फिल्म उत्सव तो अब निकट अतीत की ही बात है। सैकड़ों बरसों से हर युग में इस नाटक के रूपांतरों ने इसके चारुदत्त को अपने-अपने ढंग से ज़ुबान दी है और आज के जेट और सुपरसॉनिक युग में मिट्टी की यह गाड़ी उतनी ही शान से समय के साथ हस्तक्षेप करती चलती चली जा रही है।

देश हो या परदेश, समय के साथ साहित्य के हस्तक्षेप करने की बात तो इतनी विचित्र होती है कि कभी-कभी तो लेखक का नाम तक पीछे छूट जाता है और कृति लौट-लौट कर हस्तक्षेप करती रहती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की रक्तकर्बी को हम भूल ही जाते यदि उसे रामू

मित्रा न उठाते। और तो और आज आप देवदास की चर्चा कीजिये तो लोग पूछेंगे- कौन सा देवदास? बठआ वाला! सहगल वाला, दिलीप कुमार वाला या शाहरुख खान वाला? इन सब देवदासों की जानकारी रखने वालों से आप ज़रा देवदास के रचयिता का नाम पूछकर देखिये तो शर्तिया कह सकती हूँ- पचास प्रतिशत लोग शरतचंद्र का नाम नहीं बता सकेंगे। एक और उदाहरण दूँ। गाँवों में आपने देखा होगा कि नितांत मामूली और निरक्षर लोग भी बात-बात में रामचरित मानस की चौपाइयाँ दोहरायेंगे, विनय पत्रिका के पद गायेंगे, पर शायद ही किसी को तुलसीदास का नाम मालूम होगा। हमारे समय पर साहित्य का हस्तक्षेप तो आदिकाल से चला आ रहा है।

जब-जब संकट घनघोर हो उठता है- साहित्य का हस्तक्षेप मनुष्य को उबारने की चेष्टा अवश्य करता है। मुग़लकालीन पराजय जनित नैराश्य, गौरव विहीनता, हतप्रभता और बिखराव से हमें संतों और भक्तों के साहित्य ने बचाया। उस समय यह भी हुआ था कि मुग़लिया प्रभाव से बचाये रखने के लिये समाज के कर्णधारों ने लोगों के चारों ओर कर्मकांडों और बाहरी आडंबरों की एक बाड़ जैसी खड़ी कर दी थी, पर जब उस भूल भुलैया में लोग ज़्यादा ही फँसने लगे तो कबीर जैसों ने हस्तक्षेप किया और समय को नई दिशा दी। बाद में हम सबने अच्छी तरह देखा और जाना ही है कि अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी सभ्यता के बढ़ते शिकंजे से मुक्ति दिलाने में साहित्य ने किस तरह समय की छाती पर पाँव रखकर हस्तक्षेप किया और अपने दायित्व का निर्वाह किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि न होते। मैथिलीशरण गुप्त ने 'हम क्या थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी' की चेतना जनमानस में जगाकर गंभीरतापूर्वक सोचने को मजबूर न किया होता, उस समय के युवक 'चाह नहीं, सुर बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ' की बात मन में न संजोते, उस समय की नारी 'खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी' से प्रेरणा न पाती- उस समय के बच्चे-बच्चे में देश प्रेम और आत्म बलिदान का जज़्बा साहित्य ने न फूँका होता तो क्या केवल गांधी, जवाहर, भगत सिंह या सुभाष वह कर पाते जो हमने तब हासिल कर लिया था?

अंकिता

यह जो अपनी-अपनी दे ले वाला समय आया है इसमें बड़े से बड़े साहित्यकारों के मन में भी एक सन्नाटा सा व्याप गया है। वे अपने को अलग-अलग और अकेला सा महसूस करने लगे हैं।

साहित्य लिखा भले ही वर्तमान में जाता है पर उसकी जड़ें हमारे अतीत से जुड़ी रहती हैं और दृष्टि भविष्य के विस्तार माप आती है। इसीलिये साहित्य में सिर्फ़ आज ही की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् भविष्य के निर्माण की धारणायें भी होती हैं। हज़ारों बरस पहले लिखी व्यास ने महाभारत। उसका एक छोटा सा टुकड़ा लेकर धर्मवीर भारती ने लिखा है- रह-रह कर ख़ुद को दोहराता है। कथा को गुज़रे हज़ारों बरस बीत गये, पुस्तक को लिखे पचास बरस हो गये पर अंधायुग है कि आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। कैसे अजीब भविष्य दृष्टा होते हैं यह साहित्यकार नाम के प्राणी।

मैंने कहा था न कि साहित्य लिखा आज जाता है, जड़ें उसकी अतीत से जुड़ी रहती हैं और दृष्टि भविष्य के विस्तार माप लेती है। सो कबीर की दृष्टि ने वह भविष्य देख लिया था जो आज का सच है, जिसे हम जी रहे हैं। और यही आज का समय ऐसा समय है जब साहित्य के हस्तक्षेप की बेहद ज़रूरत है। पर दुःख होता है यह देखकर कि मन तो हमारा पुकार रहा है- ''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये। एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।'' ...पर शायद आज का भारतीय लेखक अपने दायित्वों और अधिकारों को उतनी गंभीरता से ले नहीं रहा। विवेक की भाषा, साहस की भाषा, दृढ़ता की भाषा आज पूरे तेज के साथ कहीं दिख नहीं रही है। वास्तविक साहित्यकार तो अपने कृतित्व को ही अपना धर्म मानता है। ऐसा धर्म जो बाहर से आरोपित अनुशासनों और अनुष्ठानों के रूप में नहीं होता वरन् वह तो अंदर से विकसित निर्मल मर्यादाओं के रूप में बाह्य जीवन को भी नियोजित करता है। लेखक और बुद्धिजीवी वर्तमान में स्थापित सत्ता की नीति का निर्वाह मात्र नहीं करता वरन् उससे गहरे उतर कर संपूर्ण राष्ट्र - बल्कि सम्पूर्ण मानवीय नियति का साक्षात्कार करना चाहता है। जिस संस्कृति में भी मानवीयता की यह दृष्टि कुंठित पाई गयी उसी संस्कृति में और कुछ भी हुआ हो, पर उच्चतर कृतित्व कभी नहीं पनप सका। वह संस्कृति सदैव शून्य और बंजर साबित हुई।

साहित्य सृजन केवल श्रम नहीं होता, न आजीवन के लिये स्वीकृत कोई पेशा ही होता है। साहित्य सृजन तो निर्व्याज्य आनंद होता है जो हृदय में सुलगने वाली निर्धूम आग से उपजता है। अनोखा निरानन्द आत्मदान है साहित्य सृजन। ऐसा रागात्मक कर्म है साहित्य - जिसे बहुआयामी दायित्वों को पूरा करना होता है। हमारे पूर्वजों की गौरव गाथायें तो अनोखी रही हैं। जिन युगों में हमारा सांस्कृतिक ह्रास अपनी चरम अवस्था पर था तब भी ऐसे साहित्य साधक होते थे जिन्हें अपने मूल्यों से च्युत होना स्वीकार नहीं था भले ही 'माँग कै खाइबो मसीत को सोइबो' की बात स्वीकारनी पड़े पर उन्हें अपने दायित्वों और मूल्यों को भूलना मंज़ूर नहीं था। आज के साहित्यकारों के सामने तो जीवन यापन की कोई समस्या है भी नहीं, पर उनकी वाणी के अवतरण में वह शक्ति नहीं जो संतन को कहा सीकरी सो काम कहने

वाले कुंभनदास जैसों की वाणी में हुआ करती थी। आत्मा की ऐसी मुक्तावस्था से जो सांस्कृतिक इकाई बनती है वह आज नहीं है। आज तो आलम यह है कि एक मंच से सीकरी को गाली देंगे और दूसरे मंच से सीकरी के दिये ठीकरों को बटोरेंगे। जर का उल्टा रज होता है की सीख देकर अपना सिर कटा डालने वाले घनानंद आज कहाँ मिलेंगे। आज तो अधिकांश लोगों में कथनी और करनी का जो भेद दिखाई देता है वही कारा बन चुका है इस बात का कि साहित्य लिखा तो घड़ियों का जा रहा है पर रत्ती भर भी ऐसा दिखाई नहीं देता, जो समय की छाती पर हस्तक्षेप करके नयी दिशायें उजागर करने का सामर्थ्य रखता हो। बच्चन जी ने ठीक ही लिखा था- जिस दिन मेरी चेतना जगी मैंने देखा/मैं खड़ा हुआ हूँ इस दुनिया के मेले में/हर एक यहाँ पर भुलावे में भूला/हर एक लगा है अपनी अपनी दे ले में।

हमारे साहित्यकारों में वह ऊर्जा है। वह तेज है कि जिस दिन उनकी सच्ची चेतना जागेगी उस दिन मनुष्य से मनुष्य अपरिचित नहीं रह जायेगा, बुद्धि को बुद्धि का आतंक नहीं सतायेगा और हृदय से हृदय भागता रहेगा? आज़ादी के बाद भी जब-जब हमारे सांस्कृतिक संकट आये हैं साहित्यकारों के स्वर समय-समय पर मुखर होते रहे हैं। फिर हरे होंगे वे सुर, फिर-फिर गूँजेंगे।

यह जो अपनी अपनी दे-ले वाला समय आया है इसमें बड़े से बड़े साहित्यकारों के मन में भी एक सन्नाटा सा व्याप गया है। वे अपने को अलग-अलग और अकेला सा महसूस करने लगे हैं। अभी पिछले दिनों भोपाल से ही निकलने वाली पत्रिका 'अक्षरा' के मुखपृष्ठ पर सुमनजी की एक कविता पढ़ी थी- 'कैसी यह बेबसी' - ''पंख कटा संपाती/ आज निहार रहा/सिंधु पार भारत की लक्ष्मी बनी बंदिनी/ एकादश रुद्र गया/अता-पता लेने को/सुरसा मुँह बाये खड़ी, भूखी भुजंगिनी/हेमधवल वृषम पर/उदग्र घूर्जरी विक्षुब्ध/छोड़कर समाधि चले/करने को चौकसी/ मेरे ही मानस से/नीर-क्षीर विशद विवेचनरत/ एक हंस के विलुप्त होने की बेबसी ने बहुतों को भीतर से तोड़ा हुआ है। चुप रहने की मजबूरी को चुनने के लिये बाध्य किया हुआ है।

किसी अख़बार में पढ़ा कि मुरली मनोहर जोशी ने कहीं कहा है- ''आज भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन गया है। इस मसले पर गहराई से विचार होना चाहिये।'' पढ़कर याद आया बहुत पहले पढ़ा एक श्लोक। श्लोक तो याद नहीं पर यह याद है कि उसमें राजनीति को पूंश चली कहा गया है। पूंश चलियों के भी अपने मूल्य होते हैं, अपनी निज की मर्यादायें होती हैं। पर आज की जो राजनीति है, वह तो सचमुच भ्रष्टाचार की पर्याय बन चुकी है। आज़ादी के पहले स्थिति इतनी ख़राब नहीं थी। आज़ादी के पहले का जीवन मैंने ख़ुद जिया हुआ है। मेरे देखते-देखते ही छोटे से छोटे और बड़े से बड़े मूल्यों का जिस तरह पतन हुआ है वह स्तब्ध कर डालने वाला है। वोट के चक्कों पर सवार सत्ता की कुर्सी के रथ की धुरी कब भ्रष्टाचार बन गयी यह पता भी नहीं चला और रथ के पहियों ने सारे समाज को कुचल कर धर दिया है।

आज हमारे देश में, हमारे समाज में जो भ्राँत सांस्कृतिक आवेग आ गये हैं, विषम आचरण उत्पन्न हो गये हैं, हमारा मनोजगत जितना भ्रष्ट और असंतुलित हो गया है उससे हमें केवल साहित्य का हस्तक्षेप ही बचा सकता है। कोई वैज्ञानिक उपलब्धि, कोई व्यवसायिक सफलता कोई वैभव सम्पन्नता हमें बचा नहीं सकेगी। कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म, कभी सत्ताएं दीवारें खड़ी कर देंगे कि हम अपने-अपने कारावासों में क़ैद होने के लिये अभिशप्त बने रहेंगे। समय अपने हाथों से अपने दीपक बुझा दे इसके पहले ही हमें उन दीयों में इतना स्नेह भर देना होगा कि अंधेरे हमें निगलने न पायें। भैरोंसिंह जी की अपील अपना रंग ला भी सकती है। हमारे साहित्यकारों में वे उच्च आंतरिक संस्कार हैं कि उनकी रचनायें आज के समय के चक्रव्यूह को भेद सकेंगी। पर मित्रों! क्या आज के राजनीतिज्ञ भी कुछ ऐसी ही सुबुद्धि दिखा सकेंगे? मैं तो महाराष्ट्र में रह रही हूँ। वहाँ मराठी भाषा में समर्थ गुरु रामदास के कितने ही ऐसे अभंग मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि वे राजनीति में सीधा हस्तक्षेप करते थे। और छत्रपति शिवाजी महाराज उस हस्तक्षेप को सहर्ष स्वीकार करके तद्नुसार कार्य करते थे। हमें आज रामदास तो मिल जायेंगे पर क्या आज शिवाजी महाराज मिलेंगे?

आज तक हम यही समझते आये हैं न कि हृदय विश्वासी होता है और बुद्धि विवेकशील होती है। पर आज हमें उस मुकाम को पाने की ज़रूरत है कि बुद्धि विश्वासी हो जाय और हृदय विवेकी। जिस दिन हमारे साहित्यिक मूल्य और राजनीतिक लक्ष्य एकाकार हो जायेंगे उस दिन हमारे साहित्यकार समय के मुँहज़ोर घोड़े की लगाम अपने हाथों में थाम कर देश को नयी दिशा ज़रूर दिखायेंगे। आज तो समाज के कर्णधारों के बीच की राजनीति के भ्रष्टाचार ने सुरसा के मुँह की तरह जो फैलना शुरू कर दिया है उसने व्यक्ति के दैनिक जीवन में इतनी विषमताओं और जटिलताओं की उथल पुथल मचा रखी है कि साहित्यिक हस्तक्षेप भी अक्सर बौने साबित हो रहे हैं। साहित्यकारों की अभिव्यक्ति कुंठित होने की कगार पर पहुंच गयी है। लेकिन यह भी सच है कि हमारे साहित्यकारों में वह ऊर्जा है। वह तेज है कि जिस दिन उनकी सच्ची चेतना जागेगी उस दिन मनुष्य से मनुष्य अपरिचित नहीं रह जायेगा, बुद्धि को बुद्धि का आतंक नहीं सतायेगा और हृदय से हृदय भागता रहेगा। आज़ादी के बाद भी जब-जब हमारे सांस्कृतिक संकट आये हैं साहित्यकारों के स्वर समय-समय पर मुखर होते रहे हैं। फिर हरे होंगे वे सुर फिर फिर गूँजेगी वह धुन जो सारे कुहासे छाँट देगी। -''कैसे आकाश में सुराख़ नहीं हो सकता/एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो।''

ओमप्रकाश कादयान

वे इस क्षेत्र में आल्हा गायिकी के फ़नकारों को खोजते हुए सागर से सीधे मेरे पास आये थे। उन्हें लोक कला परिषद् भोपाल के निदेशक ने इस सन्दर्भ में जानकारी लेने हेतु मेरे पास भेजा था। वे आल्हा के प्रामाणिक पाठ पर भी शोध कार्य कर रहे थे। मैंने बचपन में ख़ूब आल्हा सुना था। उस समय क्या बरसात होती थी। अटूट पानी बरसता था। महिनों सूरज नारायण के दर्शन नहीं होते थे, और जो झड़ी लगती थी तो पखवाड़े भर नहीं थमती थी। आकाश-धरती एकमेक हो उठते थे। ऐसे में काश्तकारी के सारे काम बंद हो जाते थे। उस समय मेरे गाँव के मालगुज़ार के यहां सोलह हल चलते थे। उनका आवास बाखर कहलाता था। उन दिनों ट्रेक्टर का चलन न के बराबर था, इसलिए हल ही काश्तकारी के आधार थे। सोलह हल चलने के मायने थे कि सोलह हलवाहों के साथ कुछ चरवाहे, दो घसियारे आदि को मिलाकर ऐसे लगभग पच्चीस-तीस आदमी मालगुज़ार के यहां बंदेजा काम पर रहते थे। घनी बरसात के दिनों में उन बीस-बीस कामगारों को सुतली कातने को ढेरा थमा दिया जाता था। हल बक्खर

आश्रित नहीं है, वह शरीर की भाषा से भी अभिव्यक्त होने वाली कथा विधा भी है बीच-बीच में गायक और उसके साथी खड़े होकर हाथ फटकारते हुए आल्हा के अक्षर-अक्षर में व्यक्त वीर रस को व्यक्त करने लगते थे। उन्हें देखकर लगता था कि 'मनहुं वीर रस धरे सरीरु।' मैं उस समय तक आल्हा का मुग्ध श्रोता था गायिकी का असर तो सिरा-सिरा को फड़का देने वाला था ही। आल्हा के भीतर जो प्रसंग बहुलता और कथा-विन्यास की जो कौतुहलमयी सुसंबद्धता थी, वह मुझे अधिक प्रभावित करती थी। बावन लड़ाईयों के मूल में जो कारण थे उनमें कुल की आन-बान, प्रेम की सहज आकर्षण वृत्ति, पिता की पराजय, मौत का बदला, सुंदर लड़की को पाने की चाहत आदि को परिगणित किया जा सकता है। इन कारणों के साथ-साथ प्रपंच कर्ताओं के दाव-पेंच भरे षड्यंत्र, राजाओं और सामंतों के आपसी ईर्ष्या-द्वेष भी युद्धों की आग को उकसाने में ईंधन का काम करते हैं। आल्हा के कथानक की नाटकीयता में लोक की व्यावहारिक जीवन शैली को सहजतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। आल्हा के युद्ध वर्णन प्रसंग तो

• लोक

पिछले पचास-साठ वर्षों के अंतराल में धीरे-धीरे आल्हा की गायिकी ठप्प होती गयी है। बहुत खोज-बीन करने पर दस-बीस गाँवों के बीच आल्हा गाने वाला एकाध बुज़ुर्ग ही मिल पाता है। वह भी बची-खुची परंपरा के भभकते दीये के समान जलता-बुझता हुआ। आल्हा के अच्छे गायकों की परंपरा समाप्त प्राय है।

आल्हा
पंरपरा की उखड़ती सांसें

श्यामसुन्दर दुबे

से जुड़ा हुआ उनका काम वर्षा के कारण स्थगित हो जाता था। ये कामगार बाखर की पौर में मचेरियों पर बैठकर ढेरा चलाते थे। इनके साथ ही गांव के और लोग भी जुट जाते थे- इस ढेरा उद्योग में आल्हा का गायन चलता था।

फ़र्रूख़ाबाद में अधिकारी रहे चार्ल्स इलियट ने उस पुस्तक को संपादित किया था, जिसे उस पौर में पढ़ा जाता था। वैसे हलवाहों के बीच में ही घंसू और पंचे नाम के दो प्रौढ़ ऐसे थे, जिन्हें आल्हा कंठस्थ था, किन्तु वे इसे अपनी तरह से गाते थे। पुस्तक से पढ़कर गाने वालों में रणछोड़ी महाराज थे। उनकी गायकी में फूटता उनका सुरीला कंठ बाखर में समा बांध देता था। गांव भर के औरत-मर्द, बाल-बच्चे वहां आल्हा सुनने इकट्ठे हो जाते थे। ढोलक पर थाप देते थे- परमलाल और मंजीरा संभालते थे- सरजू। आल्हा केवल गायिकी पर

अद्भुत हैं। उन सबके बावजूद आल्हा के रचयिता जगनिक ने अपने चरित्रों में जिन मानवीय संवेदनों को समाविष्ट किया है, वे संवेदन ही आल्हा के प्राण हैं। लोक-जीवन के धड़कते हत्पिंडों के रूप में हम उन चरित्रों को अनुभव कर सकते हैं।

मैं उन दिनों आल्हा सुनते-सुनते उसकी कथा में निहित व्यथा-भाव से द्रवित हो उठता था। खासकर वह प्रसंग तो मुझे रुला ही देता था, जिसमें अल्प वयस् आल्हा ऊदल, गायक योगियों का वेश धारण कर करिंगाराय के द्वार पर पहुंचते हैं। वहां वे अपने पिता और चाचा दस्सराज और वच्छराज की खोपड़ियां टंगी देखते हैं। ऊदल की आँख में आँसू भर आते हैं किन्तु आल्हा छोटे भाई की आँख में आये इन आँसुओं के मर्म का अनुभव करते हुए स्वयं अपने आँसू पी जाते हैं। वे ऊदल को सावधान करते हैं कि यहाँ यदि आंसू बहाते पकड़े गये

तो पिता जैसी खोपड़ियाँ हम सबकी भी लटक जायेंगी। बालकों के मानस के भीतर चलने वाले व्यथा भाव और बदला लेने वाले अमर्ष भाव का ऐसा धूप-छँही वर्णन कोई लोककवि ही कर सकता है। आल्हा को मूलतः वीर काव्य ही माना जाता है किन्तु इसके कवि ने इस कृति में वीरता की तीखी धूप में मानवीय संवेदना से आपूरित प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत बदली की ओट को भी महत्व दिया है। विगत पचास-साठ वर्षों के अंतराल में धीरे-धीरे आल्हा की गायिकी ठप्प होती गयी है। बहुत खोज-बीन करने पर दस-बीस गाँवों के बीच आल्हा गाने वाला एकाध बुज़ुर्ग ही मिल पाता है। वह भी बची-खुची परंपरा के भभकते दीये के समान जलता बुझता हुआ। आल्हा के अच्छे गायकों की परंपरा समाप्त प्राय है।

एक अंग्रेज़ चार्ल्स इलियट ने आल्हा की गायिकी से प्रभावित होकर उसके बिखरे कथानक को एक पुस्तक के रूप में संग्रहीत किया और दिलकुशा प्रेस फ़त्तहगढ़ से उसे मुंशी रामस्वरूप ने प्रकाशित किया। जाने-अनजाने उस अंग्रेज़ ने स्वतंत्रता संग्राम की धार ही इस रूप में और पैनी की थी। कविता यदि अपनी ताकत को अनेक दिशाओं में फेंकती है- और उसकी व्यंजना वृत्ति में यदि अनेक आशय छिपे रहते हैं, तो आल्हा की लोक-कविता में जो वीरत्व का आशय छिपा था, वह परोक्ष रूप में स्वतंत्रता सेनानियों का मनोबल बढ़ाने वाला ही था। जिस क्षत्रिय धर्म की प्रतिष्ठा आल्हा में की गई है, उसमें बैरी को जीवित नहीं रहने देने का संकल्प है- ''जी कौ बैरी जीवित बैठो ताकि जीवै को धिक्कार।''

उत्तर भारत के लोक अंग्रेज़ों के खिलाफ़ उद्वेलित करने के लिए आल्हा की यही पंक्ति ही पर्याप्त थी। अपने मान-सम्मान, अपनी स्वतंत्रता और अपनी भूमि के लिए प्राणार्पण करने की प्रतिज्ञा आल्हा अपने कलेवर में बार-बार उद्घोषित करता है। पराजित और ग़ुलाम मानसिकता में आल्हा आत्म सम्मान की तेजस्वी लौ को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला लोक-काव्य है। शरीर की सिरा-सिरा को फड़का देने वाला यह काव्य जाने-अनजाने ही लोक में स्वतंत्रता के लिए क़ुर्बानी की भूमिका निर्मित करता रहा है। आल्हा की चौपालें उस समय भीतर ही भीतर धधकती आग के कऊड़े जैसी थी, जिनसे निकलने वाले शोले देश की ग़ुलामी को जलाकर राख कर देना चाहते थे। आल्हा की गायिकी के कम होने का एक अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शनैः शनैः हम भीरू और स्वार्थी बनते गये हैं या बना दिये गये हैं। हमारे चिन्तन से देश खारिज होता गया है, और इसी के बरक्स हमारी जातीय वीर स्मृतियाँ भी विलोपित होती गई हैं। आल्हा एक तरह की ऐसी जातीय स्मृतियों का काव्य है, जिसमें साहस को एक मूल्य की तरह समारोपित किया गया है। आल्हा गायकों के लोक में लाले पड़ रहे हैं, तो लोक से वह साहस भी विदा ले रहा है, जिसमें अपने देश के आत्म सम्मान की रक्षा की प्रबलता थी। आल्हा-गायिकी को पकड़ कर इधर प्रचार हेतु अनेक तरह की गीत संरचनायें की गयी हैं। इन्हें आल्हा की तरह ही गाया-बजाया गया है किन्तु लोक-कंठ में बैठी कविता केवल लयाश्रित ही नहीं होती है, उसकी ध्वनि, विषय-उद्भासी भी होती है। लय अपने भीतर निहित संवेदना से ही लोकप्रिय बन पाती है। आल्हा की लय की नकल की जा सकती है, किन्तु आल्हा की संवेदना को अब कैसे पकड़ा जा सकता है। सुभद्रा कुमारी चौहान का बुंदेलों हरबोलों की गायकी में लिपटा झाँसी की रानी का स्वर मंद हो गया है। पहले उनकी यह कविता प्रायमरी की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जाती थी। अब दूर-दूर तक उसका अता-पता नहीं है।

लोक जिन प्रेरणाओं से आज संवेदित हो रहा है, उसमें आल्हा जैसी कविता के लिये स्थान शेष नहीं बचा है। लोक ने एक और समांतर समय अपनी रचनाओं में भद्र संसार से ही उठाया है। पढ़े-लिखे, चतुर और होशियार लोगों द्वारा रचे गये श्रृंगारिक गीतों की भरमार इन दिनों है। इनमें लोक भाषा का आश्रय भर लिया गया है। अन्यथा ये आधुनिक मन के गीत हैं। ये गीत ही कैसिट्स के माध्यम से गाँव-गाँव में लोक लुभावने बन रहे हैं। आकाशवाणी जैसे संस्थान भी लोक की छवि को इसी तरह के गीतों में प्रस्तुत कर रहे हैं। कोई विशेष गायिकी जब लुप्त होने लगती है तब वह अपने साथ न केवल अपनी लय और अपना राग-संसार ले जाती है, बल्कि उसके साथ स्मृतियाँ भी विलोपित होने लगती हैं। चूँकि ये स्मृतियाँ इस तरह के लोक-काव्य में अपनी संपूर्ण सृजनात्मकता के साथ होती थीं इसलिये उनमें जो मिथकीय संप्रेरणायें समाहित रहती थीं उनके अभिप्राय निरंतर अपनी समकालीनता को भी प्रभावित करते रहते थे। प्रत्येक समय में अपने अनुकूल आशय लोक उनसे ग्रहण करता रहता था। लोक कविता लोक के आंगन में अपनी गायिकी-वादकी में ही अपने अर्थ खोलती है। वह सामूहिकता में ही संप्रसारी होती है। वह एकांत का एकल आस्वादन नहीं है- यही वजह है कि वह पठनीय रचनाओं की कोटि में नहीं आती। इसलिये लोक लिखित में जीवित नहीं रहता है। लिखित लोक-काव्य में उसके अर्थ का सामूहिक अनुसंधान हो ही नहीं सकता है। आल्हा पुस्तकों में जरूर रुपांतरित हुआ है, किन्तु अपनी सामूहिक प्रभान्विति से वह वंचित हो गया है। आल्हा की किताब अब रणछोड़ महाराज के कंठ से निसृत होकर समूचे गांव को संबोधित नहीं कर पा रही है।

आल्हा पुस्तकों में ज़रूर रुपांतरित हुआ है, किन्तु अपनी सामूहिक प्रभान्विति से वह वंचित हो गया है। आल्हा की किताब अब रणछोड़ महाराज के कंठ से निसृत होकर समूचे गाँव को संबोधित नहीं कर पा रही है।

गाँवों की परिस्थिति के बदलते स्वरूप ने भी आल्हा गायिकी के अवसर कम किये हैं। जिस तरह की धारासार वर्षा पहले लगातार महीनों चलती थी, वैसी अब नहीं हो रही है। गाँव की ऊष्मित सामूहिकता भी समाप्त हुई है। खेती-किसानी के लिये हल-बक्खर बैल और हलवाहे अप्रासंगिक हुए हैं। जिन ढेरों पर सुतली काती जाती थी, वे ढेरे कठ-कबाड़ में चले गये हैं। नायलॉन की रस्सियों से किसान काम चलाने लगा है। काश्तकारी के बदले हुए तौर-तरीकों के साथ लोक कलायें अपनी संरचनाओं में उपयुक्त परिवर्तन नहीं कर पायी है, इसलिये इन कलाओं की बदलते लोक के साथ उपयुक्त संगति नहीं बैठ पा रही है। सिंचाई के संसाधन खेतों के नज़दीक होने से किसानों की बसाहट में स्थानांतरचारिणी विरलता आयी है। गांव की समष्टि टूटी है। अब किसान चौबीसों घंटे अपने परिवार सहित अपने खेत के ट्यूबवेल पर बने मकान में ही रहने लगा है। दूरियों के कारण-सुबह की सामूहिक बैठकें समाप्त हुई हैं। आल्हा का वीर भाव तो सामूहिकता में ही जागने वाला रहा है।

● राजेश जोशी

सूत्रधार और विदूषक संभवतः भारतीय नाटक के दो ऐसे चरित्र हैं, जो उसे दुनिया के दूसरे नाटकों से अलग करते हैं। लेकिन विदूषक की दुनिया उतनी भर नहीं है, जितनी हम संस्कृत के नाटक या भारतीय रंगकर्म को लेकर किये गये शास्त्रीय विवेचनों से जानते हैं।

रंगे हुए चेहरों की नेपथ्य कथा

सूत्रधार और विदूषक संभवतः भारतीय नाटक के दो ऐसे चरित्र हैं, जो उसे दुनिया के दूसरे नाटकों से अलग करते हैं। लेकिन विदूषक की दुनिया उतनी भर नहीं है, जितनी हम संस्कृत के नाटक या भारतीय रंगकर्म को लेकर किये गये शास्त्रीय विवेचनों से जानते हैं। संस्कृत नाटक के विदूषक से बाहर भी विदूषक की एक दुनिया है। लोक नाट्य में उसके अलग स्वरूप और रंग हैं। संस्कृत नाटक का विदूषक भी एक-सा नहीं है, हर जगह वह पेटू, लम्पट और मज़ाक का पात्र होते हुए भी, कई बार बहुत काँइयाँ और बुद्धिमान भी है। विदूषक के अलग-अलग चेहरों की तलाश ही वह मूल अवधारणा थी, जिसे विकसित करने और उसके अनुसार न केवल नये नाटकों को खोजने और लिखने का विचार आया बल्कि इसके लिये अभिनय की एक नयी प्रविधि (मैथेडोलाजी) विकसित करने के लिये लोक और परंपरा को टोहना और टटोलना शुरू किया गया। नाट्य समूह रंग विदूषक इसी प्रक्रिया का परिणाम है। कहा जा सकता है कि वह इस प्रक्रिया का उत्पाद है जो विचार और सृजनात्मक व्यवहार से पैदा हुआ।

उसकी वेशभूषा है, साज श्रृंगार है, मुद्राएँ हैं, और देह भाषा है। इस देह भाषा और उसकी ऐक्सरसाइज को एक रंग भाषा में बदलने के लिये रंग विदूषक ने एक लम्बे समय तक अखाड़ों और उनकी तकनीकों और ट्रेनिंग का बाकायदा अध्ययन किया। यह निरा तकनीकी अध्ययन नहीं था। एक मार्शल आर्ट को अगर हम सिर्फ़ फ़िज़ीकल एक्सरसाइज़ की तरह ही समझने की कोशिश करेंगे तो वह मात्र कुछ गुलाटों और उछलकूद में अवमूल्यित होकर रह जायेगा। रंग विदूषक का मकसद इतना भर नहीं था। उसे तो एक नयी रंग भाषा ईजाद करनी थी। इसलिये यह भी आवश्यक था कि अखाड़े की पूरी परंपरा और उसके रिचुअल्स को भी जाने और समझे। उसकी जड़ों को जाने बिना इस मार्शल आर्ट की भाषा को रंग कर्म की भाषा में अनूदित करना संभव नहीं था। इसके लिये अनेक अखाड़ों, उनसे जुड़ी कथाओं और रिचुअल्स का अध्ययन किया गया। अखाड़े के अनेक कलाकारों से साक्षात्कार लिये गये। उनसे जुड़े कलाकारों और गुरुओं के साथ रंगमंच से जुड़े कुछ कलाकारों को अखाड़े की ट्रेनिंग भी दी गयी।

दूसरी बड़ी समस्या थी नाटक के संवाद और अखाड़े की देह गतियों के बीच एक तालमेल, एक लय पैदा करने की। दो भाषाओं को एक दूसरे के साथ मिलाते हुए, रंगकर्म की एक लय की आविष्कृति करने की, यह आसान काम नहीं था। अखाड़े की गतियों में कोई संवाद या कथा नहीं थी। किसी विचार की समान्तर प्रक्रिया वहाँ नहीं थी। उसे जो कुछ भी व्यक्त करना था, उसके नाटक की पारंपरिक आधुनिक भाषा में जो देह गतियाँ थीं वे सीमित और सधी हुई थीं। उसमें बहुत तीव्र गतियाँ या तो नहीं थीं या थीं तो सिर्फ आंशिक। रंग विदूषक जिस प्रविधि पर काम करना चाहता था, उसमें चेहरा रंगा हुआ था और गतियाँ बहुत तीव्र थीं। वह सिर्फ एक्टिंग की नयी प्रविधि को तलाशना ही नहीं चाहता था, एक नये विचार को भी वह अपने नाटक के ज़रिये स्थापित करना चाहता था। वह हँसी में अन्तर्निहित इण्टलीजेन्स और प्रतिरोध को अपना वास्तविक मकसद बनाने की कोशिश कर रहा था। नाटक में विदूषक की एक आंशिक उपस्थिति को बनाये रखने की एक लम्बी परंपरा को क्लासिकल और लोक नाटकों में पहले से ही मौजूद थी, लेकिन विदूषक को केन्द्र में रख कर नाटक को रचने का विचार नया था। यह कॉमेडी के विचार से भी थोड़ा भिन्न था। यह विदूषक की विडम्बना का नाटक नहीं था, वह हमारे जीवन की विडम्बना को विदूषक के माध्यम से समझने की कोशिश थी। विदूषक विडम्बना का एक मूर्त चरित्र है। उसे कई बार मूर्ख या थोड़े बुद्धू से चरित्र की तरह रख कर एक कॉमिकल सिचुएशन पैदा करना, या

उसके माध्यम से शासक या अन्य पात्रों को अन्तर्विरोधों को प्रकट करने का कमोबेश थोड़ा आसान रास्ता अपना लेने में एक किस्म की सुविधा हो सकती थी। लेकिन रंग विदूषक के रंगकर्म में तो उसकी उपस्थिति केन्द्रीय थी और वह मूर्ख या बुद्धू नहीं था। इण्टेलीजेन्ट था। उसकी प्रज्ञा हर वक्त जागृत रहती है, वह दरबार का जोकर या मात्र हँसोढ़ नहीं है। वह नाटक के बीच किसी किस्म का रिलीफ नहीं है। उसकी भूमिका हस्तक्षेप की है। वह स्थितियों के बीच पूरे विवेक के साथ इण्टरवीन करता है और उसका यह एक्ट कॉमिक को पैदा कर सकने की अपनी क्षमताओं के साथ होता है। इस तरह वह हँसी के और हँसाने के सारे अर्थ को बदल देता है। वह नया विदूषक है। यह क्लासिक और लोक के विदूषक का एक अन्य पाठ या निरा पुनर्पाठ नहीं है। इसी नयी भाषा को अन्वेषित करने के लिये लोक में मौजूद कथा गायकी के स्वरूपों का अध्ययन करना शुरू किया गया। कथा गायकी में ऐसे कई लोक फॉर्म मौजूद थे, जो एक नयी भाषा को प्राप्त करने के लिये सहायक हो सकते थे। आल्हा या पंडवानी जैसे कथा गायकी के फॉर्मों को टटोलना इसमें मददगार भी हुआ।

रंग विदूषक आदमी की हँसी और प्रज्ञा या समझदारी के बीच में जो एक पतली सी डोर है उस पर चलने वाले नट की तरह आपके लिये अपने समय के नाटक को संभव करने की कोशिश कर रहे हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि रंग विदूषक एक लोक रंगकर्म के पुनर्वास की कोशिश नहीं कर रहा था। वह लोक बोलियों और भाषाओं को भी अपना आलम्बन बनाना नहीं चाहता था। उसका लक्ष्य एक आधुनिक नाटक ही रहा और वह आधुनिक हिन्दी में आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं और प्रश्नों को उठाते हुए एक आधुनिक रंग भाषा को प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है। अपनी इस आधुनिकता को वह निश्चय ही परंपरा और लोक के निषेध से प्राप्त करना नहीं चाहता। लेकिन वह उसकी शरण में जाकर अपना विलयन भी करना नहीं चाहता। अवधारणाओं और प्रेक्टिस के स्तर पर बहुत कुछ तैयारी के बावजूद समस्या थी उसके लिये नाटकों के नये टैक्स्ट की। संस्कृत के कुछ पुराने प्रहसनों की पुनर्रचना भी इस क्रम में की गयी। ''खेल गुरु का'' जैसे नाटक इसी तरह तैयार भी हुए। शुरुआती दौर में इसे कई असफलताएँ ही हाथ लगीं। कई लोग इसे मात्र रंगे हुए चेहरों की उछल कूद ही समझते और उसकी आलोचना भी करते। ख़ुद कलाकार भी कई बार इस नयी मैथोडलॉजी से असंतुष्ट और असहमत होते। कुछ भी नया करने में एक ज़िद की ज़रूरत शायद हमेशा होती है। बंसी कौल इस अर्थ में एक पर्याप्त ज़िद्दी निर्देशक है। वह जो सोच रहा था, और बहसों से जो विचार बन रहा था, वह उसे हर हाल में मूर्त करना चाहता था। इसके लिये नये नाटकों के नये पाठ तैयार करना जरूरी था। कई तरह से, कई बार सोचा गया। कई योजनाएँ और विचार पूरी तरह शक्ल अख़्तियार नहीं कर पाये। शेक्सपीयर के नाटक किंग लियर को एक अलग ढँग से लिखे जाने पर भी कई दिन विचार विमर्श किया जाता रहा। संस्कृत नाटकों के अलग-अलग विदूषकों को एक साथ लेकर नाटक लिखने की भी योजना बनायी गयी। फिर एक लोक कथा को आधार बना कर पहला नाटक मैंने और बंसी ने मिलकर लिखा ''टंकारा का गाना''। यह नाटक एक विदूषक को केन्द्र में रख कर लिखा गया। एक ऐसे काल्पनिक द्वीप की सृष्टि की गयी जहाँ हँसना पागलपन ही नहीं अपराध भी माना जाता है। प्रदर्शनों और बहसों के दौरान इसमें बहुत कुछ जुड़ा और कम हुआ, लेकिन शायद वह पहला नाटक था जो रंग विदूषक की सोच और नई रंग भाषा को एक आधार देता था।

सिद्धेश्वर

इसके बाद एक नाटक और लिखा गया 'सीढ़ी दर सीढ़ी उर्फ तुक्के पे तुक्का'। यह नाटक भी एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। बार बार खेले जाने और बदलते जाने की लम्बी प्रक्रिया से गुजर कर यह अपनी संरचना में इतना लचीला है कि खेले जाने के दौरान पुनः इसमें कई परिवर्तन किये जा सकते हैं। मुझे हमेशा लगता है कि नाटक के फॉर्म को इतना लचीला और जनतांत्रिक होना चाहिये कि उसे बदलते हुए समय की आवश्यकताओं के अनुरूप बदला जा सके और जब उसे बदला जाये तो वह बदल भी जाये, लेकिन इसके बावजूद उसका मूल स्वरूप भी हमेशा बचा रहे।

एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए रंग विदूषक ने अपनी रंग भाषा और रंग विचार को एक हद तक प्राप्त किया है। विदूषक को केन्द्र में रख कर एक ऐसा रंगकर्म है जो विदूषक के अलग-अलग रूपों और उनमें अन्तर्निहित विचार तत्व को नये ढंग से विकसित करने की एक कोशिश करना चाहता है। रंग विदूषक आदमी की हँसी और प्रज्ञा या समझदारी के बीच में जो एक पतली सी डोर है उस पर चलने वाले नट की तरह आपके लिये अपने समय के नाटक को संभव करने की कोशिश कर रहे हैं।

छवि-संवाद : **टॉम आल्टर**

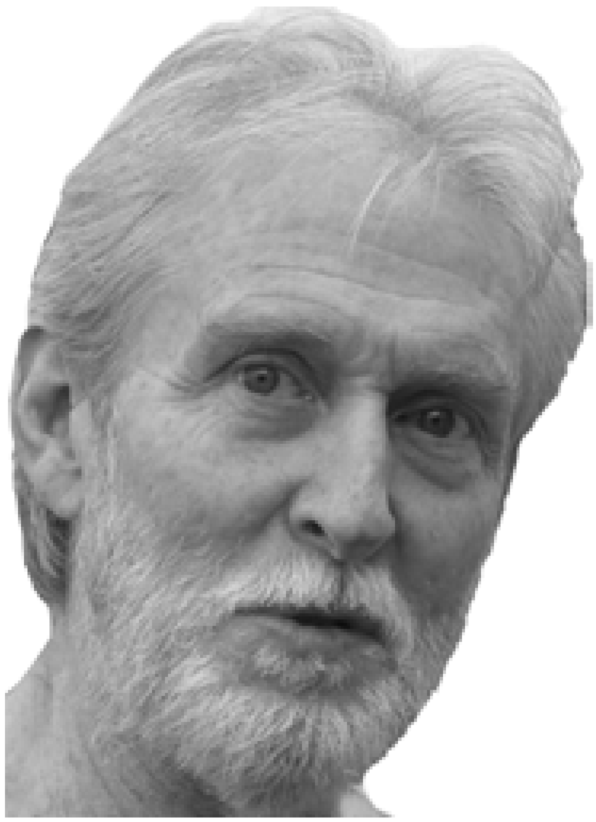

सम्मोहन
अभिनय और वाणी का

अभिनय उनका जुनून है, उनकी जीवनी शक्ति और उनकी एकमात्र पहचान भी। उनकी आवाज़ में ताज़े गुड़ की राब का दानेदार मीठा ज़ायका है। उन्होंने फिल्मों, टीवी धारावाहिकों और रंगमंच तीनों विधाओं में पूरी शिद्दत से अभिनय को जीया है क्योंकि वे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न एक रससिद्ध नैसर्गिक अभिनेता हैं। ये है छोटा सा तआरूफ़ अपनी अदायगी का सम्मोहन बिखेरने वाले श्री टॉम आल्टर का। स्कूल के दिनों से ही नाटकों के प्रति जो अनुराग जागा वह उम्र के हर पायदान पर और प्रगाढ़ होता गया। अभिनेता की भाषा कितनी समृद्ध होनी चाहिए, साहित्य में कितनी गहरी पैठ होनी चाहिए, ये सीखना-समझना हो तो टॉम आल्टर को जानना बेहद ज़रूरी है। अमेरिकन मूल के होने के बावजूद उनकी हिन्दी और उर्दू इतनी शुद्ध और मंत्रमुग्ध करने वाली है कि जब आप उन्हें अभिनय करता देखते हैं तो उनकी वाणी के सम्मोहन में बिंध जाते हैं। उनके साहित्यिक सरोकारों पर नज़र दौड़ाएँ तो पाएंगे कि उन्होंने अंग्रेज़ी में तीन नॉवेल लिखे हैं, ग़ालिब की शायरी का अंग्रेजी में तर्जुमा किया है, ढेरों शेर और नज़्में उन्हें कण्ठस्थ हैं और उर्दू पर उनका अधिकार विस्मयकारी है। उनकी साहित्यिक मेधा ने उनके अभिनेता को संपूर्ण और संपुष्ट किया है। उन्होंने अब तक जिन नाटकों में भूमिकाएँ कीं उनमें ज़्यादातर नाटक चरित्र प्रधान हैं जो श्री टॉम के आभामंडल की धुरी पर घूमते हैं। उन्होंने कितने ही ऐतिहासिक किरदारों को अपने अभिनय से जीवंत किया और अविस्मरणीय बना दिया।

ग़ालिब, मौलाना आज़ाद, गांधी, के.एल. सहगल, ज़फ़र, टैगोर, आइंस्टीन, औरंगज़ेब.... फ़ेहरिस्त खत्म नहीं होगी। टॉम के अनुसार फिल्मों ने उनको पहचान ज़रूर दी लेकिन कलाकार का आत्म संतोष रंगमंच ने ही दिया। रंगमंच की वजह से हम उनके असीम को देख पाए। रंगमंच की आबोहवा में अभी भी उनके कलाकार की लता आसमान पर चढ़ रही है और एक साथ कई नाटकों की रिहर्सलें चल रही हैं। कई सोए हुए किरदार धीरे-धीरे जाग रहे हैं उनके विराट व्यक्तित्व में और वे ख़ुद बेचैन हैं। सबकी रूहों को अपनी आवाज़ और जिस्म का साथ देने के लिए, उन्हें फिर से जीवंत करने के लिए। यही सबब है कि उनकी यायावरी कभी खत्म नहीं होती। वे दुनिया भर के दिलों में अपना घरौंदा बनाने खानाबदोशों की तरह घूम रहे हैं। -संपादक

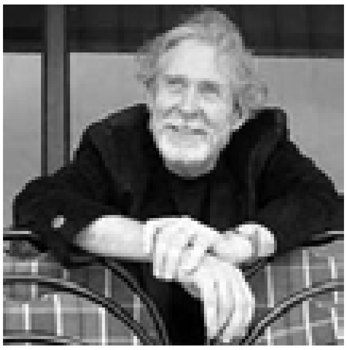

'हम खानाबदोशों की तरह घूम रहे हैं'

रंगकर्मी और सिने अभिनेता **टॉम आल्टर** से लेखिका **ममता तिवारी** का अंतरंग संवाद

हमें ज़्यादा कुछ पूछना नहीं पड़ा। पद्मश्री टॉम ने रेल में बैठने से शुरुआत की और हमें पूरे सफर में 'घुमाते' रहे... हालांकि हमें बाद में उतार दिया गया रेल से, पर उनका सफ़र अभी जारी है... इस पूरी वार्ता में कोई काँट-छाँट का प्रश्न नहीं उठता था। टॉम अपने में खो गये थे और रंगमंचीय जुनून उनके चेहरे पर छा गया था। यह सब देखते ही बनता था... उन्हीं के शब्दों में ''रंगमंच का सफर... कांधे पे उठाये हुये हस्ती का जनाज़ा, हम खानाबदोशों की तरह घूम रहे हैं... (अज़ीज़ वारसी)

ममता : **पूरा हिंदुस्तान जानता है सिने अभिनेता टॉम आल्टर के भीतर इक रंगमंच कलाकार बेचैनी से छुपा हुआ है, उजागर भी हुआ है, आपकी प्राथमिकता इस बारे में क्या कहना चाहेंगे, सिनेमा या स्टेज... और क्यों?**

टॉम : मैं प्राथमिकता में सिर्फ अभिनय को रखता हूँ। फिल्में मेरी पहचान का ज़रिया बनी, रंगमंच मेरी संतुष्टि है, पर अभिनय दोनों जगह है। मैं इस 'सिर्फ अभिनय' पर केंद्रित करता हूँ। दरअसल जब पुणे एफ.टी.आई में भी हमें टेलीविजन और सिनेमा में एक्टिंग के लिये तैयार किया जा रहा था तब हम स्वतः ही रंगमंच के लिये तैयार हो गये बल्कि वहां से निकलने के बाद मोटेली नाट्य संस्था से ही हमने अभिनय शुरु किया था।

- शुरुआत कैसे हुई इस सफ़र की....?

शुरुआत हुई स्कूल के ज़माने से...। हमारी हिन्दी टीचर थी सरोज लारेंस, जो शादी के बाद सरोज कपाड़िया बनी। लेकिन नाम बदलने से वो बिल्कुल नहीं बदली, उतनी ही सुंदर, उतनी ही अच्छी, उतनी ही समझदार। उनकी क्लास में हर साल 15 अगस्त के अवसर पर हम बच्चे इक नाटक प्रस्तुत किया करते थे, हिन्दी में...। और हमारी सुंदर समझदार और अच्छी टीचर हमें पूरा एक महीना देती थी नाटक तैयार करने के लिये कितने मज़ेदार दिन थे वो... हम नाटक ख़ुद लिखते थे, कास्ट्यूम तैयार करते थे, रिहर्सल करते थे और 15 अगस्त को वो नाटक पूरे जोश और हाँ... थोड़े से डर के साथ भी... पेश किया करते थे...। ये सिलसिला चला कुछ चार बरस तक, और पहला नाटक था 'शकुंतला'। जिसमें मैंने खुद शकुंतला का रोल किया... (ठहाका) और बस... इसी दौरान मुझे रंगमंच से, और नाटक से, और जुबान से, अभिनय से मोहब्बत हो गई... और हाँ.... टीचर से भी... आज तक दोनों मुहब्बतें कायम हैं...।

...फिर हाई स्कूल के ज़माने में, मेरी खुशनसीबी रही, कि मैंने दो साल तक मिस्टर एंड मिसेज फ्रेंच ब्राउन के साथ रंगमंच की बारीकियों को सीखा और चार अलग-अलग नाटकों में हिस्से लिये... उन दोनों की जोड़ी लाजवाब थी। मि. ब्राउन रंगमंच की तमाम तैयारियों की देखभाल करते थे- सैट्स, प्रकाश व्यवस्था, प्रॉप्स वगैरह-वगैरह और श्रीमती ब्राउन अभिनय और ज़ुबान और मेकअप की तरफ ध्यान देती थी। ब्राउन साहब का मिजाज़ ज़रा सख्त था और उनकी बेगम उतनी ही नरम। हाल ही, जब मेरे स्कूल - वुडस्टाक स्कूल, मसूरी (आँखों के दिये जोर से चमके) ने मुझे ''डिस्टिंग्यूइश्ड अल्यूमनस अवार्ड'' से सम्मानित किया तो मैंने वो सम्मान मि. एंड मिसेज ब्राउन को समर्पित किया...।

फिर कॉलेज, जहाँ मैं ज़्यादा अरसे तक रह नहीं पाया, लेकिन एक बहुत ज़बर्दस्त नाटक में ज़रूर हिस्सा लिया, जिसका तर्जुमा लैटिन ज़ुबान से अंग्रेजी ज़ुबान में एरिक सहगल साहब ने किया- वो एरिक सहगल जिसने बहुत मशहूर नॉवेल लिखी थी- 'अ लव स्टोरी' जिस पर उतनी ही कामयाब फिल्म बनी और जिसकी दूसरी कहानी पर हमारी मशहूर और मकबूल फिल्म 'मासूम' भी थी...।

- अभिनय रंगमंचीय हो या फिल्मी पर्दे पर, इक उत्सुकता आपके रंग रूप को लेकर पाठकों व दर्शकों के मन में रहती है कि इस सफ़र में आपने बाकायदा कैसे और कब प्रवेश किया...?

आप मुझे विषय से गुमराह कर रही हैं... पर चूंकि आपका कहना है अभिनय तो अभिनय है फिर वो चाहे पर्दे पर हो या फिर मंच पर...। तो उसके बाद मेरा रुझान फिल्मों की तरफ हुआ और मैंने दो साल तक फिल्म अभिनय का शऊर हासिल किया अपने गुरू श्री रोशन तनेजा जी से जो फिल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट पुणे में प्रोफेसर थे। तनेजा साहब बेशक हमें तैयार कर रहे थे फिल्मों के लिये, लेकिन वो तालीम रंगमंच के लिये उतनी ही फ़ायदेमंद साबित हुई... यानि जो भी करो उसमें हकीकत का रंग नज़र आना चाहिये वो तुम्हारी रूह के भीतर से निकलना चाहिये...।

- ज़ाहिर सी बात है मुंबई आकर एकदम फिल्मों की लाइन तो नहीं लग गई होगी... और फिर रंगमंच की जो कसक आपके भीतर रही उसे शांत करने के लिये आपने क्या किया था...?

सही फरमाया आपने... फिल्मों में छोटे-छोटे रोल मिलते रहे जिनसे लोगों ने मुझे पहचानना शुरु किया, पर कलाकार मन की संतुष्टि के लिये ख़ुदा ने कुछ अच्छे साथी जुटा दिये। मुंबई आकर जद्दोजहद के ज़बर्दस्त दौर में नसीरुद्दीन शाह, बेंजामिन गिलानी और मैंने इक रंगमंच मंडली स्थापित की 'मोटली' जिसके साथ मैं तकरीबन दस बरस तक जुड़ा रहा... वाह... क्या दिन थे (आँखें मूंद कर फिर खो गये... अंतराल...) नसीर और बेंजी जैसे दोस्त उनके जैसे कलाकारों से कितना कुछ सीखने को मिला... रंगमंच पर, और आम ज़िंदगी में थी। हमारे तमाम नाटक अंग्रेजी में थे- पहला नाटक था 'द जू स्टोरी' नसीर और मैं। वाह... फिर हमारा सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटक 'वेटिंग फॉर गोडो' इसमें जो नसीर और बेंजी ने काम किया, वो वाकई तारीखी काम था फिर ''द बीअर, द टाइपिस्ट, द डम्ब वेटर, जुलिअस किसर'' के कुछ मख़सूस हिस्से 'द डॉक ब्रीफ' और आर्म्स एण्ड द मेन'। इसी बीच मैंने एक और खूबसूरत नाटक में हिस्सा लिया 'टाम एण्ड विव' जो सुप्रसिद्ध अंग्रेजी शायर टी.एस. इलियट पर लिखा गया था- क्योंकि इलियट मेरे मनपसंद शायर हैं इसलिये उनका किरदार निभाने में इक ख़ास लुत्फ़ आया। ये नाटक मैंने किया `Eunice-D'- Souza के साथ जो ख़ुद ही बहुत जानी मानी शायरा हैं...

उस दौरान मैंने गीत पटेल साहिब के लिये जबर्दस्त नाटक 'मिस्टर बेहरम' में भी हिस्सा लिया, जो कि महरूमा बेगम ने निर्देशित किया। गीव के पटेल इक कमाल के शायर हैं। अंग्रेजी और उतने ही कमाल के पेंटर भी... और इंसान भी... दोस्त भी...। लगे हाथ हमने शेक्सपीयर को भी आज़माया इक मख़सूस पेशकश में, जिसको उनवान दिया गया 'एज यू लव इट' जिसमें मैंने `Taming of the Shrew' जैसे मशहूर नाटक के खास हिस्सों में टामर का किरदार निभाया, बेहद मजा आया... फिर मोटली से रुख़सत लेना पड़ा... मजबूरन... लेकिन रंगमंच से नहीं...।

- फिर तो इक खालीपन आ गया होगा आखिर दस बरस का साथ...?

जी नहीं, तीन नाटक एक के बाद एक नसीब में आये तीनों लाजवाब `The Blood Knot' जो साउथ अफ्रीका के सुप्रसिद्ध नाटककार

अपने भोपाल प्रवास के दौरान लेखिका ममता तिवारी और रंग संवाद के संपादक विनय उपाध्याय से 'रंग संवाद' की प्रतियाँ प्राप्त करते हुये मशहूर अभिनेता टॉम आल्टर।

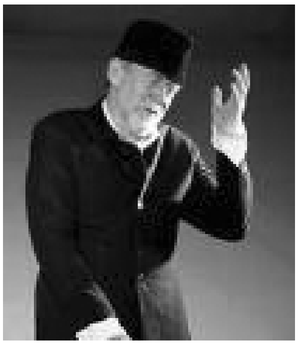

मेरे सामने मौलाना साहब नये अंदाज़ में अपने सफ़र का जिक्र करने बैठे थे। ना कोई काग़ज़, ना तस्वीर, बस लग रहा था उन्हें दिल और दिमाग में बसे एलबम के पन्ने और टेप भी आवाज़ों को सुनाना है अपनी ज़ुबान से...।

Athol Fugard ने लिखा - ये मैंने शिव कुमार सुब्रमण्यम के साथ किया। फिर Larins Sahib जिसमें मैंने हेनेरी लॉरेंस का किरदार निभाया और जो नाटक Edin Borough के मशहूर Fringe Festival में पेश किया गया और गिरीश कर्नाड का 'तुगलक' जो हमने अंग्रेजी में प्रस्तुत किया विक्रम कपाड़िया के निर्देशन में...। इस दौरान तब्दीली के तौर पर मैंने शुभा खोटे जी के साथ दो हिन्दी नाटक भी किये जो बिल्कुल कमर्शियल थे और बेहद मज़ेदार भी...।

- 'त्रिसंगा' का शोर बहुत सुना आखिर ये ख्याल आपके ज़ेहन में कैसे आया...?

जिस क्रम से मैं आपको बता रहा हूँ वह इस फिल्म की रील की तरह मेरे दिलो-दिमाग में चल रहा है...

2000 के आसपास, इक नया ज़माना, इक नया दौर मेरे लिये शुरु हुआ रंगमंच की दुनिया में। मेरे मन में 'इदराक भाटी' साहिब की दस सुंदर-सुंदर नज़्में गूँज रही हैं, जो उन्होंने इस नाचीज़ को दी थी रिकार्ड करने के लिये इस दिन। 2000 की शुरुआत थी तब मैंने वो नज़्म पेश की थी, अपने दोस्त उदय चंद्रा की क्लासिकल हिंदुस्तानी आवाज़ की जुगलबंदी में- बहुत मज़ा आया। फिर हौले-हौले - चलते-चलते वो नज़्में जुड़ गईं डॉ. भारत वाटवानी की कुछ अंग्रेजी नज़्मों के साथ। फिर इक अंग्रेज़ी Solo Piece, Father and Son के साथ जिसका तसव्वुर मैंने ख़ुद किया था। फिर मैथिलीशरण गुप्त की 'जयद्रथ वध' के साथ, जो मेरे अज़ीज़ दोस्त चंद्रमोहन खन्ना पेश करते हैं, फिर स्वामी विवेकानंद की मशहूर तकदीर के साथ जो उन्होंने 1893 में शिकागो में दी थी `First Congress of world religions' के जलसे में। फिर 'इंजील-मुकद्दस' की पहली पाँच आयते जुड़ गईं। फिर Bob Pylan का इक गाना, और शिबानी टिब्बरवाला की इक अंग्रेजी नज़्म... और (गहरी व सुकून की) साँस और इन तमाम तोहफों से बना इक बहुत ही सुंदर तोहफा - (Trisanga) - उदय चंद्रा, चंद्रमोहन खन्ना और मैं तीन यार, तीन ज़ुबान उर्दू, अंग्रेज़ी, हिन्दी। तीन मन और इक यादगार पेशकश जिसका पहला शो मल्लिका और मृणालिनी साराभाई के अति सुंदर रंगमंच ''नटरानी'' पर जो अहमदाबाद में कायम है... ये बात 2001 की है अम्मा यानि मृणालिनी जी ने ही इस पेशकश को वो नाम दिया- (त्रिसंगा) और तब से आज तक उस त्रिवेणी में इक ऐसी सरस्वती बह रही थी जिसका कोई किनारा ही है ना कोई अंत, मैं बस बताता जा रहा हूँ... डूबता जा रहा हूँ....

इस लंबे 'त्रिसंगा' के बाद इक अजीब सी खामोशी छा गई और अंतराल भी मैंने उन्हें उसमें डूबने के लिये छोड़ दिया बाकी बातें... बिना दिन तय किये छोड़ दी गई। कलाकार को डूबे रहना भी ज़रूरी है, ताकि वो उबर भी सके...

पूरे इक हफ्ते बाद मेरे सामने मौलाना साहब नये अंदाज़ में अपने सफ़र का जिक्र करने बैठे थे ना कोई काग़ज़, ना तस्वीर, बस लग रहा था उन्हें दिल और दिमाग में बसे एलबम के पन्ने और टेप आवाज़ों को सुनाना है अपनी ज़ुबान से...।

- आपके 'मौलाना' की बहुत धूम है, डॉ. सईद साहब से आपका जुड़ना कब और कैसे हुआ...?

डॉ. एम. सईद आलिम साहिब ने 'त्रिसंगा' देखा और फिर उनके साथ इक सिलसिला शुरू हुआ जो मरते दम तक कायम रहेगा, मौलाना आज़ाद, के.एल. सहगल, मिर्ज़ा ग़ालिब, राजा नाहर सिंह, ग़ालिब के ख़त, बाबर की औलाद, इक कलाकार को और क्या चाहिये... क्या चाहिये....।

(सईद साहिब का कहना है जब मैं 'मौलाना' बना रहा था मैंने टॉम को देवनागरी में संवाद लिख कर दिये सोचा उन्हें उर्दू कैसे समझ आयेगी। सात दिन की रिहर्सल के बाद मैंने पूछा कि आपको डायलॉग्स समझने में कोई परेशानी तो नहीं आई वो मुस्कुरा कर बोले आप अगर स्क्रिप्ट मुझे उर्दू में लिख कर दें तो बेहतर होगा। इक समय में प्राण साहब, प्रेम चोपड़ा, देव आनंद ही उर्दू स्क्रिप्ट पढ़ते थे पर मेरा काम आसान हो गया)

- कुछ दिल को छू लेने वाले नाटक और डायरेक्टर्स जो आपके भावनात्मक पहलू को छूने में कामयाब रहे...?

मुझे एम.एफ. हुसैन का किरदार निभाने का मौका दिया नादिरा बब्बर जी ने 'पेंसिल से ब्रश तक' में। ● औरंगजेब बना रंजीत Hoskote के लिखित नाटक ``The Last Annals of Alanig" में जो एवान पटेल ने निर्देशित किया। ● फिर भगवान, गॉड, ख़ुदा बना अनुराग कश्यप के लिखित

नाटक When God Said Cheers में जो सायरस दस्तूर की पेशकश की। क्या ज़बरदस्त नाटक है ये भी...। ● फिर इक नाकामयाब स्क्रिप्ट राइटर बना भारत दणोलकर के `Got to be Aishwarya' में इक नाकामयाब बाप और पति भी वाह क्या मज़ा आया। ● फिर अम्मा के साथ पेश किये गये वो ख़ुतूत (पग) जो गाँधीजी ने और सरोजिनी नायडू ने इक-दूसरे को 34 साल तक लिखे थे- ``The Mahatma and the poetess" मेरी की सबसे अज़ीज़ कोशिश - मृणालिनी जी के साथ रंगमंच पर काम करना- मेरी ज़िंदगी सफल हुई...। ● फिर शिवानी टिब्बरवाला के दो बेहतरनी नाटकों में काम कर रहा हूँ... Whatever U Say Deewj ``The Laboratory" जीवन के अर्थ तक जाना, जीवन की सच्चाई, तक, शिवानी और उनके तसव्वुर से सीखा...। ● फिर कुछ अर्से तक हमने टैगोर को छेड़ा उनके अंतिम प्रकाशन 'शिशिर कविता' में, उसमें मैं हिल गया अंदर तक... ये अंग्रेज़ी में था। ● नंदिनी और अरिंदम के साथ दो हिन्दी में नाटक पेश किये जो अंग्रेजी में थे कर्ण, कुंती संवाद और अभिसार। नृत्य, संगीत और ड्रामे के अलग-अलग लेकिन मिले हुये सुरों में। कमाल थे जो हमने लद्दाख में शो पेश किये वो बहुत ही ख़ास थे। ● नंदिनी जी के साथ दो और ऑपेरा/ड्रामा भी करता हूँ- 'गंगा' और 'भक्ति' - नृत्य कविता ड्रामा, अल्फाज़, गीत कल्पना, तसव्वुर, उनके साथ हमने `Macbeth' का भी अजीबो गरीब शो किया स्कूल के बच्चों के साथ (2011 में) अब वो 'दुर्गा' की योजना बना रही हैं वाह.... (फिर खो गये) और 'चित्रांगदा' भी कोई सीमा नहीं है वाकई... कोई अंत नहीं...। इसी बीच मैं भूल रहा हूँ मैंने 'एल्किमिस्ट' महान नाटक Paulo Koecho की मशहूर किताब पर अंग्रेज़ी में किया था जिसमें मैं केमिस्ट बना था।

'इंतेहा' से प्रभावित होकर इस नाचीज़ ने इक और शाम तैयार की है- हमराही- जिसमें ग़ालिब टैगोर और गाँधी का कलाम एक साथ पेश किया जाता है। गालिब की चंद ग़ज़लें पढ़ी जाती हैं मेरी आवाज़ में।

दो और नाटक रह गये इक मैंने मराठी में Waiting for godot (गोडो) आज से तीन साल पहले अंग्रेज़ी में किया था। दिव्या अरोरा के साथ वो बचपन से व्हीलचेयर पर हैं लेकिन बावजूद इसके वो लिखती हैं, फ्रेंच से अंग्रेज़ी में अनुवाद किया अभिनय भी किया, मुख्य भूमिका उन्हीं की थी और प्रोडक्शन डायरेक्शन भी उसमें मैंने ''लकी'' का रोल किया था बहुत मज़ा आया। फिर अभी कुछ समय पहले ''The Melody of love'' किया जिसमें प्रियंका चोपड़ा ने साथ में कंपेरियंग की थी।

'अंधायुग' जिसमें मैंने धृतराष्ट्र का रोल किया था जिसके निर्देशक अर्शिया सत्तार जी थे। हाँ, एक प्ले और याद आया (बीच-बीच में छूट-छूट कर पीछे जाने की आदत है उनकी) 'ब्लेक विद इक्वल' (2002-03) में श्री विक्रम कपाड़िया के साथ किया था।

- हमने ये भी सुना है कि एक ही वक्त में आपने तीन महान हस्तियों गाँधी, ग़ालिब और टैगोर को भी जीया।

तो फिर वापस ग़ालिब की तरफ चलें.... 'इंतिहा'... की तरफ। इस नाचीज़ ने उनकी दस ग़ज़लों का तर्जुमा अंग्रेजी में किया है- ये हिमाकत की है, लेकिन क्या करें- ये हम 'इंतेहा' में पेश करते हैं जूही बब्बर के साथ, उर्दू और अंग्रेजी - बारी-बारी साथ में जैज और फ्लूट का संगीत भी है और कभी-कभी उदय चंद्रा उनकी मख़सूस आवाज़ में गाने की मेहरबानी करते हैं....।

'इंतेहा' से प्रभावित होकर इस नाचीज़ ने इक और शाम तैयार की है- हमराही- जिसमें ग़ालिब टैगोर और गाँधी का कलाम इक साथ पेश किया जाता है। ग़ालिब की चंद ग़ज़लें पढ़ी जाती हैं मेरी आवाज़ में और गाई जाती हैं उदय की आवाज़ में फिर नंदिनी जी टैगोर की पांच नज्में पेश करती हैं बंगला में जिनका अंग्रेजी तर्जुमा मैं पेश करता हूँ। नंदिनी जी बोलती भी हैं, गाती हैं और फिर अंत में मैं गाँधीजी की तकरीरें जो वो अपनी 'प्रार्थना सभा' के दौरान किया करते थे। पहली तकरीर अगस्त 15, 1947 की प्रार्थना सभा से और दूसरी जनवरी 29, 1948 की प्रार्थना सभा से इक अंग्रेजी में, इक हिन्दी में क्या शाम बनती है... क्या समाँ बनता है.... तारीख गूंज उठती है... वाह...। इस शायरी और संगीत के सिलसिले में इक शाम अंग्रेज़ी में भी पेश की जाती है टी.एस. इलियट, डेलन थॉमस और बॉब डेलन की नज्में, जैज, बांसुरी की जुगलबंदी में बड़ा मज़ा आता है।

डॉ. स्वाति पीरामल के संग दो शामें इक में मैं अर्जुन बनता हूँ और भगवत गीता के विशेष भाग पेश किये जाते हैं अंग्रेजी में लेकिन श्लोक संस्कृत में - वो भी पंडित जसराज की आवाज में वाह - और फिर इक शाम जब मुम्बई की तारीख दुहराई जाती है जिसमें मैं मार्को पोलो बनता हूँ- ये पेशकश हमने इक बार 'बांबे हार्बर' में प्रस्तुत की थी जहाज में क्या कहना....। फिर मुझे इक नाटक सूझा फ्रेगिल हिन्दी और अंग्रेजी में बाप बेटी का रिश्ता पहली चाहत का रिश्ता- बहुत ही बारीक

नाटक की सार्थकता मुझे तब समझ आती है जब दर्शक भी उसमें भाग लें। ऐसा इक वाक़या पांडिचेरी में मेरे साथ हुआ जब मैंने वहाँ के कला रंगमंच पर '3' (थ्री) किया और त्रिसंगा के कुछ अंश अकेले पढ़े क्योंकि मेरे बाकी के साथी नदारद थे पर दर्शकों में से इक फ्रेंचमैन ने जैज और सेक्सोफोन बजाया। एक केरलवासी ने रामायण के हनुमान प्रसंग (जिसमें लंका में उनका मज़ाक बनाया था) उस पर अभिनय किया। अद्भुत अनुभव था वो...।

बहुत ही फ्रेगिल - ये मैंने श्वेता केसवानी और मोना अंबेगांवकर के साथ किया था।

फिर अभी हाल ही में एक और नाटक सोचा और लिखा- 'चलो इक बार फिर' से लुशिन दुबे के साथ। दो अजनबी मिलते हैं और गानों के ज़रिये, ख़ामोशी के ज़रिये इक दूसरे को जानने लगते हैं चाहने लगते हैं, मैं इस कोशिश से बहुत खुश हूँ। ...और हाल ही में इक मलयालम शार्ट स्टोरी पर आधारित इक नाटक में हिस्सा लिया 'मी ग्रांडेड हेड एन एलीफेंट' अंग्रेजी में मरहूम कलाकार अमजद ख़ान की बेटी 'अहलाम' के साथ इक बहुत ही जबर्दस्त कहानी और उतना ही जबर्दस्त नाटक-

- और अब आगे क्या...?

और अब तैयारियाँ चल रही हैं चार और नाटकों के लिये।

मरहूम बादल सरकार का 'बीसवीं शताब्दी' जिसमें मैं केशियर और आईस्टीन के किरदार निभाने की कोशिश कर रहा हूँ ये नाटक राम गोपाल बजाज ने बंगला से हिन्दी में तर्जुमा किया है। अवान पटेल के साथ अंग्रेजी नाटक 'कॉपेनहेगन' जिसमें मैं नेल बोर बनता हूँ जिसका बहुत बड़ा योगदान था 'एटम बम' के बनाने में। ये नाटक परमाणु ताबाही की जानिब हमारा ध्यान खींचता है। 'टैगोरनामा' - मल्लिका साराभाई के साथ, जिसमें टैगोर बनने की खुशकिस्मती मुझे हासिल हो रही है। ये इक ऑपेरा होगा जिसमें नृत्य और संगीत और कविता, ड्रामा को मिलकर तैयार किया है। 'असगर वजाहत साहिब' का ताजा नाटक जिसमें ये नाचीज़ गाँधी बनने की कोशिश करेगा। बस इस नाटक के बारे में मैं इस वक्त और कुछ नहीं कहूँगा।

- पद्मश्री टॉम आल्टर, गाँधी, टैगोर, आइंस्टीन, चेशायर, अर्जुन, कर्ण, बुद्ध, खुदा, मौलाना, ग़ालिब, ज़फ़र, हेनरी लारेंस, एम.एफ. हुसैन, मार्कोपोलो, औरंगज़ेब, ताफ्ता, गंगा-भक्ति, तारीख, मज़हब, सियासत, हाल, शायरी, नृत्य, संगीत, ड्रामा, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगाली, भोपाल, पुणे, बीकानेर, दिल्ली, मसूरी, देहरादून, मुम्बई, हैदराबाद, कलकत्ता, बैंगलोर, राँची, हिंदुस्तान, पाकिस्तान, लद्दाख, यू.एस.ए., इंग्लैंड, बांग्लादेश, कुवैत, दुबई अब कौन सा ऐसा चरित्र जो निभाने की आपको दिली तमन्ना है, कौन सा शहर...??

शहर तो जो भी मिलते जायें। पर गाँधीजी का रोल करने की बड़ी तमन्ना थी जो अधूरी रही अब तक।

मौलाना का किरदार जीते टॉम आल्टर

रंगमंच पर

कविता की स्मृति को रचना चुनौतीपूर्ण

अलखनंदन

नीरज रिछारिया

कविता और रंगमंच का रिश्ता नालबद्ध है, मतलब चोली-दामन का रिश्ता है। सरल भाषा में कहें तो सूक्ष्म। हमको उसको समझने की ज़रूरत है, दूसरी समझ से। तभी दूसरी चुनौती का सामना कर पायेंगे।

जैसे ये कहा जाये कि कुछ चीज़ें धार्मिक थीं, उनको शामिल करता हूँ, मायथालॉजी को शामिल करता हूँ, साहित्य को शामिल करता हूँ। चाहे ग्रीक में हो, चाहे संस्कृत में हो, लिखा कविता में ही जाता था। सब पद्य में ही लिखा गया है। उसे काव्य ही कहा गया है। संस्कृत में बड़ी आसानी है, बहुत अच्छा विश्लेषण है। एक दृश्य काव्य है और एक श्रव्य काव्य है। लेकिन इस देश का और देश के रंगकर्मियों का, इस देश के परफॉर्म का कविता से राग कितना रहा है। उन्होंने जितना शकुन्तला को खेला, जितना मृगनयनी को खेला, उससे ज़्यादा महाभारत और रामायण खेला। मैं तुलसीदास के रामचरित मानस की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं वाल्मीकि रामायण की बात कर रहा हूँ, जिसमें राम जब लौटेंगे तो जो भोज होगा, तो उसमें कितने प्रकार के मांस परोसे जायेंगे, इसका ज़िक्र है। डिटेल्ड है कि काहे-काहे का मांस परोसा जायेगा। वह संस्कृत काव्य में अब नहीं मिलता है। वो लौकिक काव्य था। महाभारत से तो इतना डरते हैं हमारे हिन्दी प्रदेश के लोग की घर से बाहर रखते हैं उस ग्रंथ को। यह केरल वालों का, कर्नाटक वालों का या छत्तीसगढ़ वालों का जिगरा है, जो महत्वपूर्ण आयोजनों में महाभारत का पाठ करते हैं।

विमर्श

मेरा ये कहना है कि महाभारत और रामायण श्रव्य काव्य होने के बावजूद रंगमंच का हिस्सा हमेशा रहे हैं और एक महाभारत से न जाने कितने-कितने अभिनय सम्पन्न हुए। मैं परफॉर्म शब्द का इस्तेमाल नहीं करूँगा। कम्युनिकेशन, मीडिया, एक्टिंग, कैरेक्टर - ये सब फालतू के शब्द हैं। मैं भारतीय सन्दर्भ में बात करूँगा। कितनी तरह से महाभारत का अभिनय सम्पन्न हुआ। महाभारत में कितनी कथाएं हैं, कितनी उपकथाएँ हैं और ये उस समय काल रूप में था और आज भी काल रूप में है। लीजिए पण्डवानी को। वह किसी भी काल में प्रस्तोता के लिए मेरे ख़्याल से बहुत बढ़िया कलारूप है। जो लोग अभिनय करना चाहते हैं या अभिनय का शौक रखते हैं, उनको पण्डवानी ग़ौर से देखना चाहिए कि उसमें सारे तत्व मौजूद हैं, जिन पर हम आज उलझ रहे हैं। जो भी प्रयत्न आज हो रहे हैं कला की दुनिया में उसमें सफलता की कोई जगह ही नहीं है। कला पर बात करने के पहले और विज्ञान के बारे में बात करने के पहले - दो ही ऐसी विधाएं हैं संसार में, दो ही ऐसे अनुशासन हैं संसार में, जहाँ सफलता का सवाल नहीं है। सवाल खोज का है। सवाल प्रक्रिया का है। आज तक कैंसर की माकूल दवा नहीं खोजी जा सकी है। आज तक एड्स की माकूल दवा नहीं खोजी जा सकी है। आप क्या सवाल करेंगे प्रयोगशाला क्यों खोली हैं? यह कला और विज्ञान एक साथ मनुष्य की जिजीविषा है। और दोनों ही बहुत समय लेते हैं। दोनों महान अनुशासन हैं। एक मनुष्य को बचाता है और एक मनुष्य को बचाकर सुन्दर होना सिखाता है।

सवाल है कि रंगमंच के लिए इस कविता को क्यों चुना?

गालिब कहते हैं कि- ''मुल्ला मुझे रोके है तो खैंचे है कौन काबा में मेरे पीछे क़ाज़ी साहब नजर आये।'' तो आप क्या कर लोगे, एक रस्सी से ईमान ले के खींचोगे कि पीछे से क़ाज़ी बनकर खींचोगे। हमारे यहाँ महाभारत-रामायण होती रही है। ग्रीक महाकाव्य होते रहे हैं मंच पर। लेकिन इधर जो कविता हुई है। जब से छंद कविता, जो आधुनिक कविता हुई है, उसमें चरित्र नहीं है। वह प्रबन्ध काव्य नहीं है। उसमें कथा नहीं है, क्योंकि बंद बिम्ब हैं, विचार हैं। एक सम्पुष्ट कथा नहीं है, जिसमें घटनाएँ होती हैं, जिसमें चरित्र आगे बढ़ते हैं, गिरते हैं। उन्नति होती है, अवनति होती है और एक निष्कर्ष पर या किसी विराट घोष में पहुंचते हैं। ये कविता आधुनिक मनुष्य की बिम्बात्मक और विचारात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इनके भीतर छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। उन छोटी-छोटी कहानियों को मंच पर करना मुश्किल भी है, आसान भी है। वो कहानियाँ इतनी उलझी हुई हैं, जैसे कि आज मनुष्य का अस्तित्व उलझा हुआ है। हमारे भारतीय साहित्य में इस

सभी कविताओं के पास बड़ी स्मृतियाँ हैं। अब यह चुनौती रंगमंच के सामने है कि वो कविताओं को कैसे मुकम्मल तरीके से ले जाए। जो रंगमंच पर कविता के समानान्तर एक संसार रचे।

नीरज रिछारिया

आधुनिक कविता की शुरुआत ग़ालिब से हुई। जिस अशुद्धवाद पर हम झगड़ा करते हैं न यूरोप का नाम ले-लेकर, वो ग़ालिब से हुई।

कविता का शब्द इतना सिद्ध शब्द है कि कविता को रंगमंच के लाख बड़े होने के बाद भी कविता मूल कला मानी जाती है, क्योंकि वो दृश्य, ध्वनि, संगीत सबको समेटकर आती है, क्योंकि उसको बोल देना ही बहुत बड़ा काम होता है। उसको करना बहुत मुश्किल काम है। मीर का एक शेर है- मीर के दीन मज़हब को पूछते क्या हो उनसे कस्का खेंचा पैर पै फिर मंद उठा के बैठ गया।

कितनी बड़ी बात है और कितना इसका प्रतीकात्मक विजुअलाईज अर्थ है। कविता की ये शक्ति है, जहाँ रंगमंच, संगीत, नृत्य सब पानी माँगने लगते हैं। कविता नाटक के अन्दर और कविता स्वतंत्र - दो चीज़ें होती हैं। ब्रेख्त के नाटकों में कविता आती है जहाँ पर संवाद बेमतलब हो जाते हैं। मतलब आपस में बात करना भी बेमतलब हो जाता है, क्योंकि संवाद से और अपने अभिनय से आप उस मनुष्य के मन के दुःख को या उसके अन्दर जो जटिलताएँ आ रही हैं, उसको जानकर यक़ीन नहीं कर सकते हैं। कविता आती है नाटक के अन्दर से, जैसे गोगरेन और संचरेन नाम का नाटक है। उसमें नौकरानी उषा का प्रेमी जब लौटता है, वो नदी के किनारे कपड़े धो रही होती है। वो शादी उसने नकली की है। उससे नकली बच्चा भी है नौकरानी का और वो आया है प्रेमी, जिससे उसकी शादी होनी है अन्त में और वो देखता है बच्चे को। तब संवाद की गुंजाइश नहीं बचती। यहाँ कविता में- उषा ने ऐसा सोचा और माईकल ने ऐसा सोचा, इसको बोला नहीं जा सकता। उस पर ये कितना बड़ा पछतावा है, कितना बड़ा डर है कि वो बच्चा नकली है। इसको मेरा प्रेमी समझेगा कि मेरा बच्चा है, मैंने शादी कर ली है और ये मुझे ठुकरा देगा और मैं इस दुःख को कैसे बताऊँ कि शादी नहीं हुई है। यह झूठी शादी है इस बच्चे को बचाने के लिए। अपने मन में सोचता है कि तूने ये क्या कर दिया। इसको संवाद में कैसे रचा जा सकता है, संभव नहीं। हमको आधुनिक कविता में देखना है कि इसकी तस्वीर बदली है, तेवर बदले हैं। पूरा बोलने का ढंग बदला है। मैं कई बार देखता हूँ कि कविता पर कोशिश करते हैं लोग। लेकिन मुझे कई बार लगता है कि नर्तक और संगीतकार और रंगकर्मी कई बार कविता को बजा डालते हैं बुरी तरह से। क्योंकि वो उस तरह का नहीं कर रहे हैं जैसे उसकी डिमाण्ड। इसके लिए आपको नया संगीत खोजना पड़ेगा।

फैज़ अहमद फ़ैज़ की कविता में बेरूत है, बारूद है, बार-बार देश निकाला है, बार-बार जेल है। 'मुझसे पहले-सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँग' - ये डिमाण्ड कर रहा है। पहले ही आपको बोल देता हूँ कि ये भरतनाट्यम, कृष्णलीला का डान्स मत कर देना। पहले सी मोहब्बत नहीं होती है। 'मैं कभी यहाँ हूँ, कभी वहाँ हूँ, अपने ही घर के अन्दर नहीं हूँ।' तो अब उसको उमा शर्माजी (कथक नृत्यांगना) जो हैं धमा-धम धमा-धम पेश करती हैं। उसके अन्दर संगीत के टुकड़े आ गये हैं, फिर एक किसी ने गा दिया कि- 'मेरे महबूब न माँग।' मेरा यह मानना है कि यह अश्लीलता हो जाती है और यह अनजाने में ही होती है। लेकिन मैं भावना की बड़ी मदद करता हूँ कि हिम्मत थी आपकी, इसलिए कुछ हुआ है। तो कविता का पूरा मुहावरा बदला है। आज की कविता को कल के सुगम संगीत से नहीं बांधा जा सकता। अचानक वो साधारण हो जाती है।

लेकिन संगीत का लालच भी कविता के साथ मुश्किल पैदा करता है। कविता अपने आप में संगीतात्मक शब्द संयोजन हैं। अज्ञेय की कविता है- ''साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं/शहर में भी रहना तुमने नहीं सीखा/फिर विष कहाँ से पाया/डसना कहाँ से सीखा।''

अब इसे किस संगीत में बांधेंगे और किस दैहिक अभिनय से इसको करेंगे। आप नहीं कर पायेंगे। वह अपने आप में सम्पूर्ण है। तो ये सब चीज़ें हैं। नाटक में चरित्र को समझना पड़ता है और चरित्र को जीना पड़ता है। कविता करने वाले के साथ मुश्किल यह होती है कि कविता को समझना पड़ता है, क्योंकि अपने आप में कविता विचार है और बिम्ब और उस बिम्ब का जस का तस ट्रांसलेशन इतना खतरनाक होता है कि मालूम पड़ा कि वो कोई खदेड़ रहा है किसी बुज़ुर्ग आदमी को और वो चिल्ला रहा है। जैसे- ''मीर के दीन मज़हब को पूछते क्या हो, कस्का खेंचा पैर पै फिर मंद उठा के बैठ गया।'' इसका विजुअल ट्रांसलेशन बहुत सीमित हो जायेगा। यह बहुत बड़ी बात कह रहा है। इसमें न इस्लाम इनवॉल्व है, न कस्का इनवॉल्व है। बहुत आगे की ये बात है। ये समस्याएँ कविता के साथ होती हैं। कविता की प्रस्तुति के साथ होती हैं और इसके लिए लम्बा रास्ता, लम्बी प्रक्रिया से गुज़रना पड़ेगा।

बड़ी ख़तरनाक होती हैं कविताएँ, जो अकेले में बात करती हैं। वो छोड़ती नहीं हैं पीछा आपका। कविता मनुष्य की बहुत मूल वृत्ति है। संगीत से भी ज्यादा मूल वृत्ति है, जब से आदमी ने भाषा सीखी। लेकिन हमारे यहाँ अब ये बात होती है कि स्मृति बहुत छोटी है इन कविताओं की। ऐसा नहीं है, स्मृति बहुत छोटी नहीं है। मैं अभी भी सुनता हूँ, हालांकि बड़े लाउड शब्द होते हैं कई बार और मैं अपने साहित्यिक मित्रों को बोलता हूँ कि स्मृति अगर छोटी होती तो सुनने

में और कई बार कहने में नीरज इतने बड़े क्यों लगते। उन कवियों की ओर से बोलता हूँ कि नीरज पर ध्यान देना चाहिए। तो छोटी-छोटी स्मृतियाँ भी दर्शक तक पहुंचती हैं। मुझे दिल्ली में या न्यूयार्क में हमेशा बुदनी और भोपाल की याद आती है कि खाना मिलेगा चार दिन बाद। मुझे घर की याद आने लगती है। बुदनी की याद आने लगती हैं, लेकिन बुदनी में अच्छा खाना नहीं मिलता। एक कविता थी 'क्रेप फूड्स'। आप यह समझ लीजिये कि यह अच्छी स्मृति है और राम की स्मृति से पुरानी स्मृति हमारे पेट की स्मृति है और हमारे पेट की स्मृति बोलती है। तो कवि चाहे तो कितनी ही भोंडी कविता ही लिखें, ताली तो बज ही जाती हैं, क्योंकि वह हमारी बात कर रहा है। हो सकता है कि वो उसकी कमज़ोरी हो। हो सकता है कि उसको और शायद उन कवियों को भी होगा जो बड़े-बड़े बिल्डिंगों में रहते हैं दिल्ली में। खाना खाने के लिए दवाई लेते हैं। लेकिन असल कवि त्रिलोचन शास्त्री हैं, जिसे बुदनी का खाना ही अच्छा लगता है। जैसे खाना बुदनी में ही बनता है भाई, बाकी जगह खाना बनता ही नहीं है। न्यूयार्क में तो खाना बनता ही नहीं है, क्योंकि न्यूयार्क में या अमेरिकन जीवन शैली, जो आपके यहाँ थोपी जा रही है, वहाँ चौका खत्म हो चुका है। बावर्चीख़ाना नहीं है, सबका मार्केट से रिश्ता हैं। आधा काटते हैं बर्गर, फ्रिज में डाल देते हैं। हम तो जानवरों के साथ भी ऐसा नहीं कर सकते। मेरे ख्याल से राक्षसों की कल्पना ऐसी ही होती होगी। उसको फ्रिज से निकालकर आधा काट लेते हैं और फिर फेंक देते हैं। ठण्डा होता रहता है और खाते रहते हैं। हमेशा खाते रहते हैं। बहुत सारी स्मृतियाँ हैं, अमर हैं इसलिए आप देखियेगा! गणेशजी के आगे और रामजी के आगे बाकायदा चलते रहते हैं। मुझे बड़ी खुशी होती है कि कव्वाली होती है गणेशजी के आगे।

तो छोटी और बड़ी स्मृति का सवाल नहीं है। सभी कविताओं के पास, बड़ी स्मृतियाँ हैं। अब यह चुनौती रंगमंच के सामने है कि वो कविताओं को कैसे मुकम्मल तरीके से ले जाए। जो रंगमंच पर कविता के समानान्तर एक संसार रचे।

'रंगशीर्ष' द्वारा स्वराज भवन भोपाल में कविता और रंगमंच विषय पर आयोजित संवाद से साभार उद्धृत

रंग यात्रा : ऊषा गांगुली

-डॉ. कमल कुमार

भारत की अग्रणी महिला रंग निर्देशक ऊषा गांगुली करीब **30** सालों से उनके द्वारा स्थापित नाट्यदल रंगकर्मी का नेतृत्व कर रही हैं और एक प्रतिबद्ध एक्टिविस्ट के नाते चुनौतीपूर्ण विषयों को उठाने और उनके साथ अपनी समझ का विस्तार करने में यकीन रखती हैं। मानवीय सुख और पूर्णता में बाधक ताक़तों का प्रतिरोध उनकी कला के विकास का स्रोत है। थिएटर-आलोचक और टिप्पणीकार की हैसियत से उषाजी देश-विदेश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेखन करती रही हैं। कई मुल्कों का व्यापक भ्रमण कर चुकी हैं। उनके लिखित, निर्देशित और रूपांतरित नाटकों में 'प्रस्ताव', 'रुदाली', 'अंतर्यात्रा', 'बदनाम मंटो', 'हिम्मतमाई', 'मंटो और मंटो', 'विसर्जन', 'सरहद पार' आदि प्रमुख हैं। फिल्म और टेलीविजन के लिए भी आपने पटकथा लेखन, अनुवाद रूपांतरण कार्य किया। संगीत नाटक अकादेमी अवार्ड सहित आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है जिनमें 'बेस्ट एक्ट्रेस', 'बेस्ट डायरेक्टर', 'बेस्ट प्रोडक्शन', 'बेस्ट म्यूजिक' तथा 'सफ़दर हाशमी अवार्ड' शामिल हैं। कथाकार *कमल कुमार* ने उषा गांगुली से उनके शुरुआती कलात्मक रुझानों, रंगभूमि पर प्रवेश और सृजन-संघर्ष से जुड़े मुद्दों पर कुछ ज़रूरी तथा रोचक मन्तव्य एक बातचीत में हासिल किए। -संपादक

हर नाटक के साथ जुड़ा होता है एक सवाल

➲ मेरा परिवार उत्तर प्रदेश का रूढ़िवादी परिवार है। लेकिन कलकत्ता में रहने के कारण मैंने बचपन में भारत नाट्यम नृत्य सीखा। सन् 1967 में एम.ए. किया और पढ़ाना शुरु किया। बद्री तिवारी वसंत सेना की भूमिका के लिए किसी उपयुक्त पात्र की खोज कर रहे थे। वह भूमिका मैंने निभाई थी। फिर दिल्ली आई, मोहन राकेश के कई नाटक किए। शुरुआत सन् 1975 में संगीत कला परिषद से हुई थी। पर यह संस्था रूढ़िवादी थी, इसमें अनुशासन नहीं था। साथ ही कई और थियेटर ग्रुप भी थे। शंभु मित्रा का और उत्पल दत्त का थियेटर ग्रुप भी काम कर रहा था। लेकिन तब भी हिन्दी का दर्शक कम था। कुल 2000 दर्शक थे। जो उच्च वर्ग के संभ्रांत लोग थे। मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के दर्शक नहीं थे।

➲ मैंने सोचा था, नाटक के लिए नए दर्शक चाहिए जिनमें आम आदमी हो, स्कूल के छात्र हों, मध्य और निम्न वर्ग का समाज हो। तब 'रंगकर्मी' की स्थापना की गई। रंगकर्मी नाम पर भी खूब बहस हुई। अंततः यही नाम ठीक लगा। शुरु में मैंने अभिनय किया और संस्था के कार्यक्रमों का आयोजन किया। बाद में मैंने निर्देशन का काम संभाला। 1984 में पहला नाटक 'महाभोज' का निर्देशन किया। हमारी संस्था रंगकर्मी की विशेषता यह है कि हम अपने नाटकों के साथ छोटे कस्बों, शहरों, छोटी-छोटी जगहों में जाते हैं। हमारा एक

विशाल दर्शक समूह है। हमारे रंगकर्मी की वजह से बंगाल में भाषा की सीमाएं टूट चुकी हैं। नाटक में मैं 'टैक्स्ट की शक्ति' को पहचानती हूँ। किसी लाभ के लिए या किसी दूसरे कारणों से नाटक को कभी हल्की नहीं होने दिया। टिकट घर के लिए या बाजार के लिए कभी समझौता नहीं किया। हमारा गुजारा स्पोंसर के शो से चलता है। बड़ी कंपनियां, संस्थाएं, कॉलेज, स्कूल, बैंक इत्यादि स्पांसर करते हैं और हम अपने शो करते हैं। बाद में उसी को टिकटों के जरिए भी किया जाता है। हम ये शो स्कूलों, कॉलेजों और खुले मंच पर भी करते हैं। हमने छोटे नाटक किए। बच्चों के लिए नाटक किए।

हमने रंगकर्मी में दस-पंद्रह लोगों के बीच शुरु किया था। अब हमारे साथ 450 लोग हैं जिनमें 100 के आसपास लड़कियां हैं। लड़कियों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उनकी भागीदारी भी महत्वपूर्ण होती जा रही है। हम अपनी संस्था में युवाओं को प्रशिक्षण भी देते हैं। हमने नाटकों में आम आदमी की दरिद्र और दलित वर्ग की पीड़ा को, उनकी समस्याओं को उभारा है। नाटकों का विषय हर बार नया होता है। विषय दोहराया नहीं जाता। नाटक की फॉर्म क्या हो, इस पर भी विचार किया जाता है। जैसे मंचों पर तीन नाटक किए 'बदनाम मंटो' 'सरहदपार का मंटो' और 'मंटों और मंटो' जिसमें अश्लीलता का सवाल उठाया गया। इन नाटकों से आज का समय उभरकर आता है। 'खेला गाड़ी' नाटक किया। जिससे हिम्मतमाई जैसी औरत उभरकर आती हैं। जीवन की सच्ची घटना से जोड़कर किया।

➲ औरत को संघर्ष तो करना ही होता है। जो औरतें संस्था या संगठन चलाती हैं, अभिनेत्रियां हैं या निर्देशक हैं सफलता के मुकाम पर पहुंची हैं और आत्मविश्वास से भरी हैं उन्हें सहन नहीं किया जाता। बहुत-सी समस्याएं झेलनी होती है पर उन्हें शब्द भी नहीं देना होता। हमारी सामाजिक बनावट ऐसी है जिसमें सशक्त 'औरत' को सहन नहीं किया जाता। दूसरी बात यह भी है कि संस्कृति की दुनिया में, नाटक की दुनिया में भी राजनीति प्रवेश कर गई है।

➲ औरत का जीवन ही संघर्ष है। औरत किसी भी जगह हो, उसका शोषण होता है। घरों में कामकाज की जगहों पर। थियेटर में भी होता है। हर तरह से लैंगिक शोषण, मानसिक और शारीरिक शोषण होता है। आज सामाजिक संगठन हैं, संस्थाएँ हैं। लड़कियाँ भी थियेटर में आती हैं। उनकी थियेटर में भूमिका महत्वपूर्ण है। अलग और विरल हैं। इसीलिए आज नाटकों के लिए नई टैक्स्ट, नई संवेदनशीलता के साथ लिखी जा रही है। स्त्रियों का योगदान थियेटर की दुनिया में अप्रतिम है। तो भी रंगमंच जैसी विधा में आना औरत के लिए सामाजिक व्यवस्था से सीधे टकराना होता है। जो इतना सरल नहीं होता।

➲ महिला कर्मी होने के नाते इस सोशल सिस्टम में मोर्चा हर जगह लेना पड़ता है। मैंने भी लिया। इसका कोई अफसोस भी नहीं क्योंकि बचपन से ही इस सच को जान लिया था कि हम औरतों को रोज़ अपनी ज़मीन खोदनी पड़ती है क्योंकि इस पर फिर से मिट्टी गिराकर पाट देने वाले हाथ बड़े मजबूत हैं।

➲ थियेटर का आर्थिक पक्ष सबसे जटिल होता है, लेकिन रंगकर्मी को बैंक, सामाजिक संस्थाएँ, कॉलेज इत्यादि स्पांसर करते हैं। हम उनके लिए शो करते हैं। साथ ही टिकटों वाले शो भी होते हैं। तो भी टिकटों वाले शो में नुकसान भी होता है। पर स्पांसर शो से लगभग उसकी आपूर्ति हो जाती है। टी.वी. और फिल्म दुनिया थियेटर के लिए हमेशा चुनौती रही है। आज यह चुनौती ज़्यादा है। तो भी थियेटर एक तरह का जुनून होता है। इससे जुड़े लोग वे होते हैं जो थियेटर से प्रतिबद्ध होते हैं, उसे प्यार करते हैं। यूँ भी थियेटर की अपनी एक मंजिल होती है। थियेटर दुनिया को तो नहीं बदल सकता। हाँ, कुछ प्रश्न ज़रूर उठाता है। इस समय देश में एक करोड़ से ज्यादा रंगकर्मी हैं जिनमें साठ प्रतिशत युवा लड़के-लड़कियाँ हैं। इनके पास साधन नहीं हैं, सुविधाएँ नहीं हैं पर तो भी वे थियेटर करते हैं। छोटे कस्बों में, शहरों में नाटक होते हैं। वे लिखते हैं, अभिनय निर्देशन करते हैं। इसलिए कि इसमें इन्हें सुख मिलता है। उन्हें खुशी मिलती है। लेकिन जो थियेटर को छोड़कर फिल्मों में या टी.वी. में जाते हैं, यह उनकी स्वतंत्रता है। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो अपने अच्छा खाने, पीने, जीने की बजाय दूसरों के दुख, उनकी परेशानियों से परेशान होते हैं और कुछ करना चाहते हैं और करते भी हैं।

➲ हाँ, थियेटर में प्रयोग करने का अपना महत्व है। लेकिन साथ ही थियेटर की परंपराओं का, माहौल का, जीवन की सच्चाई और दर्शकों को भी दृष्टि में रखना चाहिए। दर्शक इन नए शिल्प और शैली से जुड़ें उन्हें पसंद करें, यह भी ज़रूरी है। प्रयोग सिर्फ प्रयोग के लिए नहीं होने चाहिए। तामझाम से अलग मैंने सादा मंच का प्रयोग किया। दूसरे अगर टैक्स्ट कहता है तो प्रयोग ज़रूरी भी है। लेकिन जो लोग विदेशों के प्रयोगों की नकल पर प्रयोग करते हैं, वे ठीक नहीं क्योंकि दर्शक उनसे हमारी समस्याएं अभी भी बेसिक दरिद्रता में, बीमारी में, बाढ़ में, सूखे में लोग जीवन जी रहे हैं। इसलिए हमारी प्रयोगधर्मिता उन जैसी तो नहीं हो सकती।

➲ सरकार का बजट थियेटर के लिए इतना कम है कि उससे क्या हो सकता है? आज़ादी के बाद की हमारी सांस्कृतिक नीतियाँ ठीक नहीं रहीं। सरकार सिर्फ खानापूर्ति करती है। संगीत और नृत्य को फिर भी जगह दी गई है, लेकिन नाटक को नहीं। दुनिया के नक्शे में 'नाटक' को लाने का कोई प्रयास नहीं। क्या इसलिए कि नाटक 'सच' कहता है। जो साल के दस या बीस महत्वपूर्ण व्यक्ति चुने जाते हैं, उसमें कहीं नाटककार होते हैं क्या? लेकिन थियेटर के पास अपनी एक ताकत होती है जिससे वह अपने बल पर खड़ा होता है। राज्यों के प्रांतीय थियेटर बहुत महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं मणिपुर से लेकर उत्तर प्रदेश राजस्थान तक नियमित थियेटर बंगाल और महाराष्ट्र में होता है। बाकी जगहों पर सारा साल थियेटर नहीं होता। सरकार को कुछ करना चाहिए। छोटे-छोटे ऑडिटोरियम बनाए जाएँ जिसमें सौ-डेढ़ सौ लोगों के बैठने की सुविधा हो। महानगरों में धड़ाधड़ मॉल बन रहे हैं। उनमें भी थियेटर के लिए छोटे ऑडिटोरियम बनाए जा सकते हैं ताकि इस तबके का भी थियेटर से जुड़ाव हो।

➲ एक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का खुलना पर्याप्त नहीं है। दूसरे राज्यों में भी इसकी शाखाएँ होनी चाहिए। अब कुछ राज्यों में एन.एस.डी. खुल रहे हैं। पर इतनी देर बाद क्यों? छोटी जगहों पर युवा लड़के-लड़कियाँ लालायित रहते हैं कि उन्हें थियेटर का प्रशिक्षण मिले। क्योंकि सभी तो एन.एस.डी. में दाखिला नहीं ले सकते।

लोक और शास्त्र की संधि

उदयन वाजपेयी

कावालम नारायण पणिक्कर

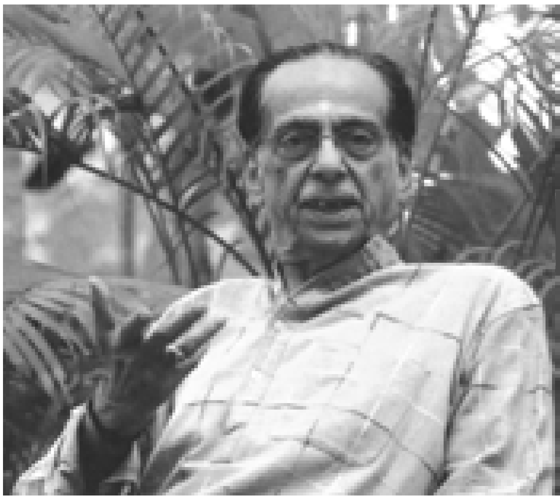

विभूति

कावालम् नारायण पणिक्कर देश के श्रेष्ठ रंग निर्देशकों में एक हैं। कई रंग-आलोचकों की दृष्टि में वे एशिया के महानतम रंग निर्देशकों में एक हैं और उन्हें पारंपरिक नाट्यशास्त्र का लगभग जीवंत रूपंकरण कहा जा सकता है। वे तिरुवन्तपुरम, केरल में रहते हैं। उन्होंने अनेक नाटक लिखे और निर्देशित किये हैं। पणिक्कर ने तीन भाषाओं में, मलयालम, संस्कृत और हिन्दी में नाटक समान अधिकार से निर्देशित किये हैं।

पणिक्कर की सृजनात्मक यात्रा की शुरुआत कविता लेखन से हुई थी। उन्हें बचपन से ही मलयालम के महाकवि वल्लतोल का आशीर्वाद प्राप्त था। वल्लतोल ने ही पणिक्कर को कविताएँ लिखने के लिए प्रेरित किया और उन्हीं की उपस्थिति में पणिक्कर ने कथकली के प्रसिद्ध संस्थान कलामण्डलम् के काम को निकट से देखा। महाकवि वल्लतोल ने ही कलामण्डलम् की स्थापना की थी। पणिक्कर का बचपन पौराणिक पम्पा नदी के किनारे कुट्टनाड अंचल के कावालम गांव में बीता। इसी गाँव में उनका केरल की कथकली, कुडियाट्टम, मुडियाट्टू, थुल्लल जैसी प्रदर्शनकारी कलाओं से आत्मीय परिचय हुआ। बचपन से ही वे इन परम्पराओं में निहित रस और इनके मर्म को ग्रहण करने लगे थे। बाद में जब वे केरल संगीत नाटक अकादमी के सचिव बने, उन्हें केरल के दूरस्थ अंचलों में जाकर इन तमाम देशी और मार्गी प्रदर्शनकारी कलाओं को गहरायी से समझने और अनुभव करने का अवसर मिला। कई वर्षों तक वे मलयालम के दूसरे महत्वपूर्ण कवियों के साथ मिलकर ग्रामीण केरल में सार्वजनिक स्थलों पर काव्य पाठ का आयोजन कर कविता को साधारण लोगों को पहुँचाने का परिश्रमसाध्य उद्यम करते रहे। इसी दौरान उन्होंने अपना पहला मलयालम नाटक साक्षी लिखा। इस नाटक का निर्देशन उन्हीं दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निर्देशन की शिक्षा लेकर आये कुमार वर्मन ने किया। पणिक्कर ने कुमार वर्मन के साथ मिलकर काम किया पर यह याद रखा कि नाटक को कुमार ही निर्देशित करें। बाद के वर्षों में पणिक्कर ने देवतार, अवनवन कटम्बा, औट्टायन, कलिवेशम और अन्य कई नाटक मलयालम में लिखे। उनमें से अनेक का निर्देशन केरल के अन्य रंगनिर्देशकों ने किया। उदाहरण के लिए अवनवन कटम्बा को प्रसिद्ध फिल्मकार जी अरविंदन ने निर्देशित किया था। इस पूरी अवधि में पणिक्कर रंगनिर्देशकों की सहायता करते रहे बिना उनके निर्देशन कार्य में हस्तक्षेप किये।

वर्ष 1978 में उन्हें कालिदास अकादमी उज्जैन से एक संस्कृत का नाटक संस्कृत भाषा में मंचित करने का आमंत्रण मिला। इस समय तक पणिक्कर मध्यमव्यायोग नामक महाकवि भास के नाटक का मलयालम में अनुवाद कर चुके थे। पर यह तय पाया गया कि वे मध्यमव्यायोग का निर्देशन संस्कृत भाषा में ही करेंगे। 'मध्यमव्यायोग' का निर्देशन कावालम नारायण पणिक्कर के जीवन का पहला रंग निर्देशन था। इस नाटक का नवम्बर 1978 में कालिदास समारोह उज्जैन में प्रदर्शन हुआ। इस प्रदर्शन का प्रभाव व्यापक हुआ। यह तुरन्त ही देश भर के रंगकर्मियों की नजरों में आ गया। इस नाटक के प्रदर्शन ने भारत में संस्कृत के रंगकर्म के नये मार्ग खोल दिये। इसके बाद से कई रंगनिर्देशकों ने संस्कृत रंगकर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के रूप में भी देखा गया है। पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पणिक्कर का संस्कृत रंगकर्म संस्कृत की रंगपरंपरा को केरल के ठोस आंचलिक कला व्यवहार से जोड़ता है और इस तरह संस्कृत रंगकर्म को जड़ीभूत होने से बचाता है। यह कहा जा सकता है कि इस नाटक के साथ ही रंगकर्मियों के हृदयों में पणिक्कर के रंगकर्म की छाप बन गयी। इस प्रदर्शन के बाद से पणिक्कर ने महाकवि भास के कई नाटकों, कालिदास के सभी नाटकों और महेन्द्र वर्मन, शक्तिभद्र आदि संस्कृत नाटककारों के कई नाटकों का निर्देशन किया है। उन्होंने हाल ही में भवभूति के उत्तररामचरितम् को हिन्दी में निर्देशित किया है। पणिक्कर ने नेमिचंद जैन और उदयन वाजपेयी जैसे हिन्दी लेखकों के सहकार में संस्कृत के कुछ नाटकों की हिन्दी में पुनर्रचना में सहयोग कर उन्हें निर्देशित किया है।

पणिक्कर का रंगकर्म 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' दोनों ही हैं। यह ना पूरी तरह शास्त्रीय है और न पूरी तरह लोक। यह रंगकर्म इन दोनों ही परम्पराओं से (जो दरअसल पूरी तरह दो अलग परम्पराएँ नहीं हैं), कुछ-कुछ तत्व चुनता है और उनके सहारे एक अद्वितीय रंगकर्म की सृष्टि करता है। दरअसल पणिक्कर का रंगकर्म पूरी ऐन्द्रिकता के साथ दार्शनिक अभिप्रायों से संतृप्त रंगकर्म है और साथ ही कल्पना का रंगकर्म है, रस का रंगकर्म जिसमें अभिनय के चारों तत्वों यानि आंगिक, सात्विक, वाचिक और आहार्य का पूरी आत्म सजगता से उपयोग होता है। ये चारों ही तत्व पणिक्कर के रंगकर्म में अपने ऊर्जस्वित स्वरूप में निकट आकर एक अनूठे रंगकर्म

पणिक्कर द्वारा निर्देशित 'शाकुन्तलम्' का एक दृश्य

की सृष्टि करते हैं। ऐसा भारतीय रंगकर्म में एक ही हुआ है। ऐसे रंगनिर्देशक हैं जिन्होंने अपने रंगकर्म में वाचिक को ही प्रधानता दी और इस तरह अपने रंगकर्म को मूलतः कथावाचन का रूप दिया, ऐसे भी रंगनिर्देशक हैं जिनके यहां आंगिक अभिनय प्रमुख है। पर कावालम नारायण पणिक्कर संभवतः ऐसे अकेले रंगनिर्देशक हैं जिनके रंगकर्म में अभिनय के चारों तत्व एक काव्यात्मक संतुलन को प्राप्त होने के साथ ही अपनी तात्विक सत्ता को बनाये रखते हैं जो भारतीय बल्कि एशियाई रंगकर्म की विशिष्टता है। पणिक्कर ने केरल के लोकतत्वों का अपने रंगकर्म के लिए बहुत सृजनात्मक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने भास रचित उरूभंगम के अपने प्रदर्शन में केवल लोकनाट्य रूप थैय्यम् का प्रयोग किया है। इस प्रयोग के कारण ही वे दुर्योधन के चरित्र को एक अलग तरह से व्याख्यायित करने में सफल हो सके और इसीलिए उनके उरूभंगम के प्रदर्शन में दुर्योधन एक साधारण खलनायक न रह जाकर एक जटिल और प्रांजल चरित्र की तरह उभरता है।

पिछले चालीस वर्षों में भारतीय रंगकर्म ने कम से कम चार महान रंग निर्देशकों को देश के चार अलग इलाकों में पुष्पित पल्लवित होते देखा है। इनमें से अब केवल दो रंग निर्देशक ही हमारे बीच हैं। ये चार रंग निदेशक हैं- ब. व. कारंत, हबीब तनवीर, के.एन. पाणिक्कर और रतन थियाम। इनमें से हरेक ने अपने अंचलों के लोक कलारूपों से अनूठा सृजनात्मक सम्बन्ध बनाया है। कारंत कर्नाटक की यक्षगान रंगनृत्य शैली से प्रेरित थे, हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ के नाचा नाट्य के अभिनेताओं के साथ काम किया, रतन थियाम का मणिपुर के कलारूपों से बहुत गहरा संबंध रहा है और पणिक्कर ने केरल के लोक और शास्त्रीय कला रूपों से अंतःक्रिया करके अपने रंगकर्म को रूप दिया है। इन सभी निर्देशकों ने अपने-अपने अंचलों से प्रेरणा पाकर बेहद कल्पनाशील रंगकर्म की सृष्टि की है। इन रंग निर्देशकों और विशेषकर पणिक्कर के रंगकर्म के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि हमारे देश के लोक कला रूपों में बहुत संभावनाएं हैं अगर उन्हें कल्पनाशील ढंग से बरता जा सके। जैसा कि सर्वज्ञात ही है कि भारत के 'मार्गी' (शास्त्रीय) और 'देशी' (लोक) कला व्यवहार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, उनमें एक तरह का नैरन्तर्य है। शायद यह कहा जा सकता है कि हमारे 'मार्गी' कला रूप हमारी 'देशी' कलाओं के अपेक्षाकृत परिष्कृत कलारूप हैं। पणिक्कर का रंगकर्म इस संबंध को न सिर्फ रेखांकित करता है बल्कि वह इनमें भागीदारी और आनंद के अनुभव की संभावना को भी उद्घाटित करता है।

हम कह सकते हैं कि पणिक्कर का रंगकर्म अपने आप में केरल की 'देशी' (लोक) कला परंपराओं की अंतश्चेतना और संभावनाओं का वहन करता है। यह एक ऐसा रंगकर्म है जिसमें केरल की लोक परम्पराएँ न सिर्फ सृजनात्मक रूप से संरक्षित हैं बल्कि उन्हें अपनी संभावना को चरितार्थ करने का अवकाश भी मिला है। पणिक्कर ने कई अद्भुत अभिनेताओं के साथ अपनी रंगमंडली 'सोपानम' में कार्य किया है। यह संयोग नहीं है कि अपने अभिनेताओं को प्रशिक्षित करने के लिए उन्होंने केरल की लोकयुद्ध कलाशैली 'कलरीपयत्तु' का ही सहारा लिया है।

कावालम नारायण पणिक्कर ने रंगकर्म, नाट्यलेखन और काव्यसृजन के अलावा केरल की अपनी संगीत परम्परा सोपानम संगीत का प्रयोग किया है उन्होंने केरल की 'देशी' और 'मार्गी' कलाओं पर गहरा अध्ययन और विचार किया है। इन्हीं सब कारणों से उनके रंगकर्म में केरल की अनेक कलारूपों की उपस्थिति और उनकी सम्भावना के सतत् दर्शन होते हैं।

सीरत से भरा ख़ूबसूरत इंसान

प्रेमशंकर रघुवंशी

क़ैफ़ भोपाली

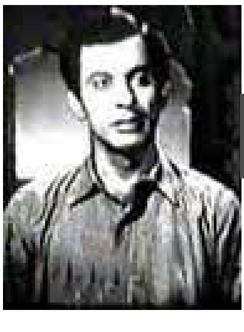

विभूति

क़ैफ़ भोपाली पर लिखने का मन हुआ तो मुझे 'क़ैफ़' शब्द ने सबसे पहले आकर्षित किया। क़ैफ़ अरबी भाषा का शब्द है जो आनंद, मस्ती, नशा के पर्याय को व्यंजित करता है। इस शब्द की रिदम के दो शब्द और आते हैं ज़ेहन में; एक 'क़ैफ़ी' और दूसरा 'क़ैफ़ियत', जिनके अर्थ क्रमशः मदोन्मत्त और हाल समाचार हैं। क़ैफ़ साहब हर हाल में अपने नाम के अनुरूप रहे। उन्हें जब भी जिस हालत में देखने का मौका मिला, वे अपनी मस्ती के नशे में आनंद बरसाते ही दिखे।

मुझे क़ैफ़ साहब से मिलने के संयोग विदिशा में मिले, जहाँ वे भाई विजयबहादुर सिंह के घर भोपाल से जरा सी फ़ुरसत पाते ही आ जाया करते थे। विजय बाबू का घर कवि-कलाकारों चिंतकों और सामाजिक जीवन में काम करने वालों के लिए बरहमेश खुला रहता था। और उनके यहाँ जो भी आता उसे मेरे और रघुनाथसिंह (हमारे मित्र) के घर लेकर आना, उनका ठीक से परिचय कराना, उनके दिन के भोजन-भजन आराम का प्रबंध हमारे घर कराना; ये सारे दायित्व विजय बाबू ठीक से निर्वहित करते। शाम का भोजन हम सब उनके घर बनाते-खाते और आगंतुक अतिथियों को सुनते सुनाते। क़ैफ़ साहब विजय बाबू के मार्फ़त इस रूप में एक आत्मीय सदस्य हो गये थे हमारे बीच।

पहले पहल जब विदिशा आये क़ैफ़ साहब तो वे उन पर केन्द्रित आयोजन में आये थे। शायद 1970-71 में। विजय बाबू ने बड़जात्या शिशु मंदिर के हॉल में उनका कार्यक्रम रखा था। नगर का मलाई वर्ग उस आयोजन में था। क़ैफ़ साहब को लोग एक बड़े शायर से ज़्यादा फिल्मी गीतकार के रूप में जानते थे लेकिन उस आयोजन में जब उन्होंने यह ऐलान करते हुए कि मैं कालिदास की नगरी में आया हूँ, जहाँ आप सभी कविता को समझने वाले लोग मौजूद हैं और कविता को समझाने वाले डॉक्टर साहब (विजयबहादुर सिंह की तरफ़ संकेत करते हुए) मौजूद हैं, वहाँ मैं फ़िल्मी गीतों के अलावा साहित्यिक रचनाएँ सुनाऊँगा। यह कहकर वे दो मिनिट में आता हूँ बोलते बाहर गये। वहाँ कुर्ते की जेब में रखी में से दो-चार घूँट पिये और आ डटे आसन पर। लगातार एक से बढ़कर एक ग़ज़ल और कुछ चुनिंदा नज़्में सुनाईं। क़ैफ़ साहब को श्रोताओं ने इतनी दाद दी कि वे उनके इस प्यार को अपनी आँखों के जल से बार बार तर करते रहे। फिर तो क़ैफ़ साहब अपने मन से ही विजय बाबू के घर आ जाते और हम लोग हर बार सूरत और सीरत से लबरेज़ व्यक्तित्व के अनेकानेक पक्षों से परिचित होकर आनंद लेते। उनका साथ हमारे अंदर के कलाकार को जगा देता। मन और तन दोनों से बेहद खूबसूरत इंसान थे क़ैफ़ साहब। एक बार तय हुआ कि अगली मर्तबा जब भी वे विदिशा आयेंगे हम लोग श्यामबाबू शर्मा (उर्फ मिर्ज़ापुरी) के गाँव चलेंगे। मिर्ज़ापुर विदिशा से सटा हुआ कोई तीन किलोमीटर दूर का गाँव है। श्यामबाबू इसी गाँव के प्राइमरी स्कूल में शिक्षक थे और वहाँ के किसान भी। क़ैफ़ साहब कुछ दिनों बाद आये और अपनी पूर्व योजना के मुताबिक हम लोगों ने श्यामबाबू के गाँव जाने का कार्यक्रम बना लिया। तय हुआ कि शाम को श्यामबाबू अपनी बड़ी बैलगाड़ी (छकड़ा) जिसमें खेती का सामान ढोया जाता है, उसको जोतकर लायेंगे और हम सब उसमें बैठ कर देशज ठाट से मिर्ज़ापुर जायेंगे। यह भी तय हुआ कि गाँव के बजाय सीधे उनके खेत चलेंगे। वहीं सब मिलकर दाल-बाटी बनायेंगे, खायेंगे और क़ैफ़ साहब मूड में आ गये तो उनसे उनके फिल्मों में लिखे गीत सुनेंगे।

यही हुआ शाम को मिर्ज़ापुरी खुद छकड़ा (बड़ी बैलगाड़ी) लेकर आ गये। हम लोग पहले से ही तैयार थे, तो झट सवार हो गये। बीच में क़ैफ़ साहब आसपास रघुनाथसिंह, शंकरसिंह, नंदन जैन, शीलचंद पालीवाल, मनोहर, मैं और शायद प्रो. उपाध्याय डट गये। छकड़े में बैठते ही एकदम गँवईमन हो गये सबके इसलिए भी कि हम सबकी पृष्ठभूमि गाँव की थी और क़ैफ़ साहब को अपनी यायावरी वृत्ति और फिल्म संसार में संलग्नता की वजह से ऐसे प्रसंगों का ख़ूब ख़ूब अनुभव था। छकड़े की यात्रा विदिशा से श्यामबाबू के खेत तक कोई चार किलोमीटर की ही थी किन्तु एकदम सघन और 'प्रेम लपेटे अटपटे' की मानसिकता से सनी हुई। क़ैफ़ साहब सभी से परिचय ले रहे थे और सभी से मानों बरसों से परिचित हों का भाव भी दे रहे थे। मेरे सिर के बालों को उनके अनुसार ठीक करते हुए बोले- ऐसे रखा करो। उन दिनों मैं पीछे की तरफ काफ़ी दबाकर कंघी करता था। वह मेरे लिए सुविधाजनक था। बिना दर्पण के कंघी करना आसान था। क़ैफ़ साहब ने कहा- सिर के दबे हुए बाल से चेहरा दबा दबा और पिटा पिटा-सा दिखता है। यह कहते हुए उनने बालों की साज सज्जा पर जो कहा वह उनके इस तरह के अछूते विषय पर किसी सौन्दर्य प्रसाधक से ज़्यादा ज्ञानवर्धक था।

इस बाल-प्रसंग के खत्म होते होते हम लोग खेत में पहुँच गये। वहाँ श्याम बाबू ने पहले से ही दाल-बाटी का

जगरा लगा रखा था। छकड़े से उतरकर हम सब भी काम में लग गये। किसी ने प्याज काटे, किसी ने मूली, किसी ने टमाटर-कोई दाल बघारने में लगा, तो कुछ लोग मिलकर बाटियाँ बनाने, सेंकने में लग गये। कोई एक घंटे में भोजन तैयार और इतनी ही देर खाने पीने की मौज मस्ती में लगी होगी। इसके बाद हम लोग बैठे तो, खेत से उठती गंध अंधेरी रात के निस्तब्ध वातावरण में चाँद तारों की छटाओं ने जो वातावरण निर्मित किया उससे क़ैफ़ साहब का मूड बनाने में देर नहीं लगी और उन्होंने हम सबकी आकांक्षा के अनुसार उनके फिल्मी गीत सुनाना शुरू किया।

उस वक़्त के खेतिल परिवेश में चाँद सर्वाधिक उत्प्रेरक लगा तो क़ैफ़ साहब ने फिल्म 'पाकीज़ा' का उनका गीत 'चाँद के पार चलो' से उस अनौपचारिक गोष्ठी का शुभारंभ किया। फिल्म पाकीज़ा उन दिनों सभी के दिल दिमाग पर जाग्रत थी। सभी को उस गीत और उसकी सिच्युयेशन से एकाकार होने में देर नहीं लगी। ''चलो दिलदार चलो/चाँद के पार चलो'' यह एक प्रणय गीत है जिसे पाकीज़ा में रफ़ी साहब और लताजी ने एक साथ गाया है। गीत फिल्मों का प्राण होते हैं- उनमें फिल्मानुकूल स्वाभाविक कला और भाव तत्वों का समावेश यदि नहीं हो पाया तो वे फिल्मों का प्राण भी हर लेते हैं। लेकिन क़ैफ़ साहब का यह गीत तो पाकीज़ा के कथातत्व की आत्मा की तरह पूरी फिल्म में अपनी आभा से दर्शकों-श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किये था। क़ैफ़ साहब इस गीत को गा रहे हैं और हम सब द्वैत से अद्वैत की दशा में पहुंचते जा रहे हैं।

कमाल अमरोही की मशहूर फिल्म 'पाकीज़ा' जिसके गीत क़ैफ़ भोपाली ने लिखे

द्वैत की दशा इसलिए कि अब तक हमारे मन में रफ़ी साहब और लताजी की स्वरलहरियों का आस्वादन जो समाहित था। अब उसी गीत को उसका सर्जक स्वर दे रहा था। क़ैफ़ साहब का स्वर शायर का स्वर था जिसमें तैरते हुए वे हम लोगों को भी अपने साथ तैराते हुए स्वरों की सरिता के उस पार तक ले जा रहे थे, जहाँ केवल वे और श्रोता ही हो सकते हैं। और हम लोग रफ़ी साहब और लताजी के युगल संगीत में क़ैफ़ साहब के स्वरों को मिलाकर इन तीनों स्वरों के संगम में स्नान करते हुए अद्वैत अवस्था में पहुँचते जा रहे थे। उन्होंने 'पाकीज़ा' के लिए लिखे वे गीत भी सुनाये, जो फिल्म में शामिल नहीं किये थे। इन गीतों को बाद में रिलीज किया गया 'पाकीजा-रंग-ब-रंग' के नाम से प्रसारित एलबम में। ये गीत हैं- 1. 'गिर गई रे मोरे माथे की बिंदिया' इसे सुमन कल्याणपुर ने संजोया है। 2. 'जाएँ तो जाएँ कहाँ अब ये तेरा दीवाना' यह कव्वाली है जिसे रफ़ी साहब और शमशाद बेग़म ने गाया है। 3. 'प्यारे बाबुल तुम्हारी दुहाई/आज मैं हो रही हूँ पराई' इसे लताजी-कोरस ने गाया है। 4. चौथा गीत है- बन्ना-गीत 'कोठे से बड़ा लंबा हमार बन्ना' इसे शमशाद बेग़म ने गाया और इन चारों लोक धुनों पर आधारित गीतों को क़ैफ़ साहब ने अपने ढंग से सुनाया।

कमाल अमरोही अनोखे फिल्म निर्माता थे। उनने मात्र चार फिल्में निर्मित कीं- 'महल' 'दायरा' 'पाकीज़ा' और 'रज़िया सुल्तान'। इनमें से 'दायरा' का - 'देवता तुम हो मेरा सहारा/मैंने थामा है दामन तुम्हारा' हैं। इसके निर्माता निर्देशक भी कमाल अमरोही हैं। इस गीत को मो. रफ़ी और मुबारक बेग़म ने जिस ऊँचाई से गाया है, वह अविस्मरणीय है। इस अमरगीत को भी क़ैफ़ साहब ने पूरी तन्मयता के साथ सुनाया और बताया कि जिन दिनों वे कुरान शरीफ़ की कुछ आयतों का उर्दू में अनुवाद कर रहे थे उन दिनों की भावदशा में यह गीत लिखा था। उन्होंने यह भी बताया कि 'दायरा' फिल्म में मीना कुमारी का कमाल का अभिनय है। इस फिल्म में पिता तुल्य वृद्ध बीमार पति के साथ रहते हुए अपने प्रेमी को पाने की उत्कट इच्छा में भटकती स्त्री की भूमिका का अभिनय मीनाकुमारी ने जिस अदाकारी से किया है उसे भुलाया नहीं जा सकता। क़ैफ़ साहब का यह गीत उन पर ही फिल्माया गया है। यह गीत इस इबारत में है :- 'देवता तुम हो मेरा सहारा, मैंने थामा है दामन तुम्हारा/थाम लो अपनी आशा को भगवान, रुक न जाये कहीं दिल की धड़कन/ये न कहने लगे कोई विरहन, मुँह छिपाकर साँवरिया ने मारा, देवता'.../तीन स्टेंजा और हैं। इसके बाद क़ैफ़ साहब एकाएक झटके से उठे। बाहर गये। थोड़ा फ्रेश हुए और फ़िर जम गये यह कहते हुए कि 'मान' फिल्म के वास्ते लिखा मेरा यह गीत मुझे भी बहुत पसंद है, सुनिये और सुनाया डूबकर बोल है ''अल्लाह भी, मल्लाह भी हैं/ कश्ती है कि डूबी जाती है।'' इसे लताजी ने गाया है। इसी फिल्म में उनका एक और गीत ''कह दो कि मोहब्बत से न टकराये ज़माना'' को भी लताजी ने ही गाया है।

आशाजी ने भी उनके लिये 'डाकू' (1955) फिल्म में एक गीत गाया है। बोल हैं- ''संगदिल बन गया, बेवफा हो गया/हाय रे बलमा तुझको क्या हो गया'' यहाँ आकर क़ैफ़ पूर्णतः गीतमय हो चुके थे। मानों अपने ही गीतों का मानवी रूप हों। फिर कुछ देर चुप रहे और यह कहते हुए उनकी आँखों से प्यार के झरने फूट पड़े कि तुम लोग कितने अच्छे लोग हो यार; बस इतना ही कह पाये। कुछ देर इसी दशा में रहे फिर बोले- ये गले लग गई है (जेब में रखी बाटल दिखाते हुए) इसे देखते ही हमारी सिरीमतीजी आपा खो देती हैं और रो पड़ीं। हमने क़ैफ़ साहब को उनकी भावदशा में बहने दिया। काफ़ी देर तक हमारे बीच ख़ामोशी पसरती रही फ़िर ख़ुद उन्होंने ही तोड़ते हुए कहा- लो इस हाल में 'जुगनू' फिल्म का यह गीत सुन लो और उन्होंने ''हमें तो शामे गम में काटनी हैं जिन्दगी अपनी'' गीत को सुनाते ही 'चलो चलें' कहा और हम सब लोग उसी छकड़े से विदिशा लौट आये।

रास्ते भर विजयबहादुर सिंह की कमी की बातें करते रहे क़ैफ़ साहब क्योंकि उस दिन किसी बहुत आवश्यक काम की वजह से वे चाहकर भी मिर्ज़ापुर नहीं पहुंच पाये थे। हमें भी उस दिन उनकी अनुपस्थिति खली थी क्योंकि हमें क़ैफ़ साहब उनकी ही दोस्ती की वजह से इतने अविस्मरणीय रूप में मिले थे।

उतनी बुरी नहीं है दुनिया

विनय उपाध्याय

वही है ज़िंदा / गरजते बादल / सुलगते सूरज छलकती नदियों के साथ है जो
खुद अपनी आँखों की रात है जो / वही है ज़िंदा...

रूआँसी, बोझिल और हारी हुई ज़िंदगियों के लिए उम्मीद की यह उजली इबारत निदा फ़ाज़ली की नज़्म का एक टुकड़ा है जिसे कुछ बरस पहले मैंने एक किताब से अपनी डायरी में उतार लिया था। अब इन लफ्ज़ों के मानी जैसे हर मुश्किल में हाथ थामते हैं, अहसासों में अपना असर घोलते हैं। एक मक़बूल शायर से मेरा यह पहला तआरुफ़ था। सामना भले ही न हुआ हो पर एक रुहानी तार ज़रूर जुड़ गया। इत्तफ़ाक़न भोपाल की कई महफ़िलों में जब वे नुमाया हुए तो हसरत पूरी हुई। फ़ासले सिमटे और हिन्दुस्तान के मौजूदा दौर के एक बुलंद पाया शायर से गुफ़्तगू के मौके मुहैया हुए। प्रसंग आया दुष्यंत अलंकरण का। भोपाल के दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय द्वारा निदा को यह अवार्ड देने की घोषणा सुर्ख़ी बनी तो बातचीत का एक और बहाना मिल गया। ख़ासे मसरूफ़ रहने वाले इस शायर ने वक़्त की तंगहाली को किनारा करते हुए खुले मन से बातें की। सदा की तरह ताज़ादम। हाज़िर जवाब। मुखर, लेकिन हर बात तर्कों के साथ पेश करने में माहिर। याददाश्त के धनी और पहचान के मुताबिक मुकम्मल शायराना और यारबाज़। अपने वक़्ती हालातों से इतने गहरे वाबस्ता कि सवाल सियासत, समाज, मज़हब और अदब से जुड़ा हो; दो टूक बयानी के लिए फ़ौरन तैयार। दिलचस्प ये कि हर बात का आख़िरी सिरा उम्मीद की डोर से गाँठ बाँध लेता है। फिर याद आती है उन्हीं की एक नज़्म-- ''धरती और आकाश का रिश्ता / जुड़ा हुआ है / इसीलिए चिड़िया उड़ती है / इसीलिए नदिया बहती है / रात और दिन के बीच / कहीं सपना ज़िंदा है / मरी नहीं है / अब तक ये दुनिया ज़िंदा है''।

निदा फ़ाज़ली

विभूति

कभी सख़्ती, कभी मासूमी, तो कभी सूफ़ियाना मनमौजी उनके क़लामों में उतर आती है। सूरज, आँगन, माँ, बहन, बच्चे, दरख़्त, चिड़िया और मौसम का ज़िक्र जब वे करते हैं तो मिट्टी की गंध और ताज़ा महक का करिश्माई स्वाद रंगों में उतर आता है। और यह देसी ताना-बाना भाषा की जिस सोहबत में हम तक पहुँचता है वह निश्चय ही निदा फ़ाज़ली की कमाई है जिसे उन्होंने मुसलसल माँजा है।

ये सच है कि निदा फ़ाज़ली की क़लम आज उदास हो रही दुनिया के लिए एक आश्वासन की तरह है। वह अपने समय को चुनौती देती है और समय में ही जीवन की स्थापना भी करती है। तभी तो आतंक से जुड़े जलते सवाल पर वे फ़रमाते हैं- ''आतंक की कोई सरहद, कोई भाषा, कोई धर्म-जाति, नाम और भाषा नहीं। हर युग में उसकी छाया रही है लेकिन हर दौर में रावण है तो राम भी है। कंस है, तो कृष्ण भी है। हमें खुद अपने भीतर प्रतिकार की ताक़त जुटाना होगी। बुझा मन लेकर ज़िंदगियाँ नहीं जी जातीं। ... ''जितनी बुरी कही जाती है, उतनी बुरी नहीं है दुनिया...''।

यह जिज्ञासा प्रायः बनी रहती है कि निदा ख़ुद को किस निगाह से देखते हैं। इस ख़्वाहिश के साथ 'दीवारों के बीच' के पन्ने पलटे जा सकते हैं जिसमें निदा ख़ुद एक किरदार की मानिंद ज़िंदगी के पोशीदा पहलू खोलते हैं। यहाँ निदा अपनी, अपने कुटुम्ब, अपने पड़ोस और दुनिया की सरहदों तक से रिश्ता जोड़ते अनुभवों का ज़ख़ीरा लिए आपके रूबरू हो सकते हैं। ज़मीनी दायरों से जोड़कर देखें तो निदा का ताल्लुक़ ग्वालियर, दिल्ली और मुंबई से रहा लेकिन यायावरी के चलते उनके पाँव अपने मुल्क़ ही नहीं समंदर पार के पड़ाव भी नापते रहे हैं। हर लम्हा कुछ नया, चमकदार और असरदार बटोरते हुए नई लहक-महक के साथ पेश करनी फ़ितरत। कभी नज़्म ग़ज़ल तो कभी गीत-दोहे और अब गद्य में उनका मन खूब रम रहा है। नई करवट को लेकर निदा का कहना है- ''मैं छंद का विरोधी नहीं हूँ। पर अपने को कभी एक लेखक ने सिमटा कर नहीं रखना चाहिए। कोई भी कवि पूरे संसार को कभी कह ही नहीं पाया। भला मेरी क्या हस्ती है। मगर मेरा मानना है कि आज ज़िंदगी में इतनी पेचीदगियाँ बढ़ गई हैं कि कविता में उन्हें ठीक से कह पाना ज़रा मुश्किल हो गया है। लिहाज़ा मैंने गद्य लिखना शुरू कर दिया है। बी.बी.सी. डॉट कॉम के लिए लगातार अपने तजुर्बे लिख रहा हूँ। मुझे ख़ुशी है कि मेरे प्रोज को दुनिया भर में पढ़ा जा रहा है और कभी-कभी वह बहसों में भी शुमार होता है।

बहरहाल, कविता हो या गद्य, निदा फ़ाज़ली की लेखनी का मिजाज़ अपने आप में निराला है। कभी सख़्ती, कभी मासूमी, तो कभी सूफ़ियाना मनमौजी उनके क़लामों में उतर आती है। सूरज, आँगन,

माँ, बहन, बच्चे, दरख़्त, चिड़िया और मौसम का ज़िक्र जब वे करते हैं तो मिट्टी की गंध और ताज़ा महक का करिश्माई स्वाद रंगों में उतर आता है। और यह देसी ताना-बाना भाषा की जिस सोहबत में हम तक पहुँचता है वह निश्चय ही निदा फ़ाज़ली की कमाई है जिसे उन्होंने मुसलसल माँजा है। ऐसी भाषा, जो सबका दामन थाम लेती है, जिसमें सबको अपना अक्स झिलमिलाता दिखाई देता है। जिसमें हमारी-आपकी सबकी आवाज़ों का सरगम गूँजता है। कह सकते हैं जीवन और जड़ों में सिंचित भाषा, जो कविता में जड़कर ज़िंदगी का ही एक हिस्सा बन जाती है।

निदा फ़ाज़ली एक सवाल के जवाब में अपनी बेलौस राय ज़ाहिर करते हैं- 'कबीर को क्या मानते हैं आप? खुद कबीर कहते हैं कि उन्होंने स्याही-काग़ज़ को कभी छुआ नहीं। कहीं भाषा की ग्रामर पढ़ने नहीं गए। मगर उनकी सधुक्कड़ी भाषा ने जो महीन कविता विरासत में दी उस पर हमें नाज़ है। दर हक़ीकत यह आम आदमी की भाषा में कहीं बोली गई कविता है। मैं ख़ुद ऐसी ही भाषा की तलाश करता रहा हूँ। जब तक कविता की ज़ुबान आम-आदमी से मेल नहीं खाएगी तब तक कविता हिन्दी की हो या उर्दू की, उसका नाता बिरादरी से नहीं हो पाएगा। फिर ऐसी पोएट्री का क्या मक़सद?''

निदा फ़ाज़ली ने इसी रौ में दुष्यंत की याद की। फ़क्र ज़ाहिर किया कि उन्हें (निदा) इस शायर के नाम से भोपाल के एक संग्रहालय ने अवार्ड दिया है। निदा की नजर में दुष्यंत कुमार आज़ाद भारत के साहसी और प्रयोगधर्मी कवि थे जहाँ से कविता ने नया रुख़ किया। अज्ञेय तक जो कविता ड्राइंग रूम तक सिमटी थी, दुष्यंत ने उस कविता का नया संस्कार कर जनता के बीच प्रतिष्ठित किया। हिन्दी-उर्दू को पास-पास लाकर उन्होंने कविता में गंगा-जमुनी तहज़ीब को तवज्जो दी। निदा फ़ाज़ली के अनुसार दुष्यंत भले ही बिजनौर (उत्तर प्रदेश) की पैदावार हो पर उनकी कविता भोपाल के उस युग की उपज है जब यहाँ तरक्की पसंद शायरों का मजमा जमता था। इस लिहाज़ से दुष्यंत को मैं प्रगतिशीलता की देन मानता हूँ जिन्होंने सदा आम-आदमी के हक़ में लिखा। मैं भी अपने को दुष्यंत कुमार की विचारधारा का ही राइटर मानता हूँ। इस कथन के आसपास निदा की लेखनी का चेहरा निहारे तो उसके भीतर पैठने के लिए अवाम को बहुत ज़ेहमत नहीं उठाना पड़ती। अलफाज़ बड़े नहीं होते लेकिन बात बड़ी ज़रूर होती है। किसी स्कॉलर की पसंद होते हैं, तो एक राहगीर की ज़ुबाँ पर भी उनके शेर चस्पा होने की क़ाबिलियत रखते हैं।

यूँ एक बड़ा फ़लसफ़ा है उनकी शायरी का जिसमें भारतीय जीवन अपने पूरे देसीपन के साथ नमूदार होता है; तब, जबकि सारा जहाँ उत्तर आधुनिकता की चकाचौंध में अपने अतीत और रवायतों से आँख मिचौली कर रहा है। लेकिन जैसी कि इस शायर की फ़ितरत है- ''छोटा करके देखिए, जीवन का विस्तार, आँखों भर आकाश है, बाँहों भर संसार'', ज़िंदगी से मुँह फेरने की बजाय आरज़ुओं और उम्मीदों से लबरेज़ सदा एक-एक सुनहरा पैगाम टाँकने को वे आतुर दिखाई देते हैं- ...सूरज भी चमक रहा है... माँ लोरी गा रही है... बच्चे स्कूल जा रहे हैं...।

आपादमस्तक लेखक थे अश्कजी

विजय बहादुर सिंह

अपने किशोर-काल में ही मैं जिन कई लेखकों से परिचित होता हुआ आकृष्ट हुआ उनमें से एक एकांकीकार उपेन्द्रनाथ अश्क भी थे। मैथिलीशरण गुप्त की स्वदेश भक्तिप्रसाद की काल्पनिकता और दार्शनिकता, निराला की विद्रोही चेतना और गतिशीलता, प्रेमचन्द की किसान-कथा भी मुझे ख़ूब आकृष्ट करते रहे। इसी तरह अपने समय के समाज के चरित्रों, उसकी असंगतियों की सच्चाई से किशोर काल में ही मुझे सचेत और संवेदनशील बनाने वाले लेखकों में सबसे प्रमुख अश्कजी ही थे।

उस समय ही साहित्य की यह परिभाषा पढ़ने को मिली थी कि वह समाज का दर्पण है। अश्क जी के नाटकों को पढ़ते हुए मुझे बार-बार अपने इस आस-पास के समाज से मुलाकात होती रही। यह भी कह सकता हूँ कि अश्क ने इस समाज को न तो भावुक होकर मैथिलीशरण गुप्त की तरह देखना चाहा न दार्शनिक होकर प्रसाद की तरह। प्रेमचन्द की तरह वे गाँवों की तरफ भी नहीं गए न ही जा सकते थे क्योंकि वे एक शहरी मध्यवर्ग समुदाय के अनुभवों के लेखक थे और भावुकता से अधिक उनमें बौद्धिकता और आदर्शवाद की तुलना में यथार्थवादिता अधिक थी।

शताब्दी पुरुष

इसमें भी कोई शक़ नहीं कि स्वयं अपने जीवन-काल में अश्क जी ने अखण्ड और विभाजित भारत का जो संयुक्त और सुखद-दुखद अनुभव किया था उनकी संवेदनाएँ इस कारण काफ़ी तीखी और आक्रामक हो उठी थीं। अपने आस-पास के समाज को उन्होंने जिस बुरी तरह पतित और क्षरित होते हुए देखा था उसमें उनके लिए यह कभी संभव नहीं हो पाया कि वे किन्हीं हवाई सपनों में खो जायें और अपने पाठकों को उन्हीं हवाई सपनों की सैर कराएँ। विपरीत इसके वे चाहते थे कि उनके पाठक उन्हें पढ़ते हुए सजग और समाज शिक्षित बनें। संभव है, इसका एक कारण हिन्दी का वह प्रगतिवादी आन्दोलन रहा हो जिसका मूल चरित्र यथार्थवादी था और जो अपने पाठकों को सामाजिक यथार्थ की क्रूरताओं के प्रति अधिक सजग और आलोचना प्रवण बनाना चाहता था।

अश्क के उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' की भूमिका लिखते हुए उनके ही समकालीन कथाकार भैरव प्रसाद गुप्त ने यह महत्वपूर्ण वाक्य लिखा है कि अश्क निम्न-मध्यवर्ग के जीवन की व्यंजना हैं उसके जीवन-सत का चित्र हैं। अश्क इस वर्ग की चीख हैं और यही उनमें सबसे बड़ी महत्व की वस्तु है।' आगे के कुछ और वाक्य भी उनके महत्वपूर्ण हैं- 'वे उन कुरीतियों का, बुराइयों का, समाज के फोड़ों का चित्रण इस तरह करते हैं कि पाठक के मन में उन बुराइयों को दूर करने की, उन फोड़ों का इलाज करने की प्रबल आकांक्षा जग उठती हैं- 'यह सब बदलना चाहिए। यह सब बदलना चाहिए।' पाठक का मन पुकार-पुकार कर यह कह उठता है।' इस आधार पर यह स्वभावतः मान लेना पड़ता है कि अश्क परिवर्तन के भी लेखक हैं। वे

सामाजिक बदलाव चाहते हैं। अपमूल्यों के संसार के विरुद्ध एक मूल्यधर्मी समाज की आकांक्षा वाले लेखक हैं। लेकिन तात्कालिक या समकालिक जीवन यथार्थ को पहचान लेना जितना आसान है उसके पीछे की कार्यकारी शक्तियों की जटिलता को समझ पाना उतना ही कठिन भी है। सौभाग्य से अश्क हमारे अपने समय के बुद्धि-बहादुर लेखकों में से नहीं थे जिनके यहाँ परिवर्तनवादी शास्त्रों की बहुतायत है और जो सामाजिक जीवन-प्रवाह, उसके स्वभाव, सदियों के कुसंस्कार और जड़ताओं की ओर बग़ैर कोई निगाह डाले, समाज का चन्द फार्मूलों के बल पर कायाकल्प कर डालना चाहते हैं। उन्हें यह मुगालता भी है कि इस चुनाव में न सही अगले किसी चुनाव में उनकी पार्टी जब सत्ता में आएगी वे अपने सपने को पूरा होते देख पाएँगे। अश्क इस तरह के यथार्थवादी राजनीतिक लेखक नहीं थे। वे एक पुराने और परंपरागत समाज से चलकर आए थे जो गुलामी की यातनाओं से होकर गुज़रता हुआ, अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहा था। एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद से लड़ रहा था पर उसके अपने भीतर की जो मुसीबतें थीं, वे भी कुछ कम परेशान नहीं कर रही थीं। विशाल भारतीय समाज, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र, ताकतवर लोग और दीन-हीन दलित और पिछड़े, साथ ही सदियों के सामाजिक अभिशापों को सनातन अभिशापिनों सी झेलती चली आ रही हिन्दी स्त्री, दबंग पुरुष-सत्ता की संवेदनात्मक जड़ता और दकियानूसीपन। क्या नहीं था इस विशाल और बहुस्तरीय बहुरूपी हिन्दू समाज में जिसका अनुभव करने के लिए किन्हीं अन्य समाजों में जाना पड़े।

वे लेखक से अधिक एक संस्था की तरह अपनी उपस्थिति जताते रहे। उस ज़माने में लेखकों का एक घेरा भी उनके इर्द-गिर्द बना रहा। कमलेश्वर और धर्मवीर भारती जैसे अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक इसमें शामिल रहे।

यह ऐसा भी समाज था जिसको अपने अतीत से अंधता की हद तक मोह था। ऐसा भी जो अपने दुर्वह अतीत को ढोते-ढोते बुरी तरह थक और उकता चुका था और किसी असह्य बोझ की तरह सिर से उतार कर ज़मीन पर फेंक देना चाहता था। लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क भी इसी संसार के अभिशापों के बीच अपने शब्दों की लड़ाई लड़ रहे थे किन्तु इस वास्तविकता बोध के साथ कि यह समाज अत्यन्त पुराना और जटिल है और बदलाव की प्रक्रिया में इसीलिए यहाँ कोई आनन-फानन कार्रवाई नहीं होगी। साहित्य उसमें एक जुझारू मानसिक योद्धा की तरह धीरे-धीरे हमारी चेतना को अधिक संवेदन प्रखर और भविष्य-संवेदी बनाएगा, लेकिन धीरे-धीरे ही। इस अर्थ में वे हमारे आज के पोलिटिकल लेखकों और कवियों में से नहीं थे जिनका भरोसा एक मूल्यधर्मी शब्द से कहीं अधिक राजनीतिक शब्द में हो चला है। अश्क इसके विपरीत अपने अनुभवों से सीखने और उन्हीं की मदद से रचने वाले लेखक थे। अपने नाटक 'जय-पराजय' की अगस्त 1937 में भूमिका लिखते हुए उन्होंने लिखा 'पिछले दो-तीन वर्षों में मुझे जिन कठिन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा, जिन अनदेखी विपत्तियों से जूझना पड़ा और जीवन के इस संघर्ष में मैंने जो कठोर आघात सहे, उन्होंने मुझे एक प्रकार से अशक्त ही कर दिया था.... उस समय मेरा मन एक विचित्र उदासीनता से भर गया था। जी चाहता था- बैठा रहूँ, बस सारा-सारा दिन नीरव चुपचाप बैठा रहूँ, किन्तु जीवन-युद्ध में जय-पराजय का चक्कर तो चलता ही रहता है... घुटनों में सिर देकर बैठ जाना तो दुर्बलता है निरन्तर चलना, निरन्तर लड़ते रहना ही तो जीवन है। ....'जय पराजय' मेरे उसी प्रयास का फल है।'

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए यह निष्कर्ष निकालना ग़ैरवाजिब नहीं है कि सिर्फ़ जीवन ही नहीं लेखन भी एक अविराम युद्ध है। जीवन में भले ही हम अपने युद्ध निजी सफलताओं के लिए करते हों किन्तु साहित्य में की जाने वाली लड़ाइयाँ तो समूची मानवता की रक्षा के लिए लड़ी जाती हैं। फिर भी एक देश और काल के अनुभवों के कुरुक्षेत्र में खड़े होकर। अश्क की यथार्थ-दृष्टि में एक ख़ास किस्म की मध्यमार्गिता है जो उनके उपन्यासों में दिखती है, नाटकों में तो है ही। जिस संक्रान्ति कालीन समय और समाज की उपज वे थे, उसी को अपनी ताकतवर पढ़ने और समझने की कोशिशों में वे लगे हुए थे। यह काम उन्होंने 'सितारों का खेल', 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' जैसे उपन्यासों में भी किया और 'जय-पराजय' और अति चर्चित 'अंजो दीदी' जैसे नाटकों में भी।

समकालीन आलोचना में 'सभ्यता-समीक्षा' जैसा पद आज बहुत प्रचलन में है। एक ऐसा लेखक जो मानवता की नियति पर अपना ध्यान सबसे ज़्यादा टिकाए रखता है। प्रसाद इस दृष्टि से हमारे सबसे बड़े लेखक हैं। इस सवाल पर प्रेमचन्द भी 'रंगभूमि' जैसे अपने उपन्यासों में अटकते हैं। 'कामायनी' तो खैर सभ्यता-समीक्षा का ही महाकाव्य है। परवर्ती अज्ञेय भी इस बिन्दु पर स्वयं को लाते हैं और सभ्यताओं की गहराइयों में उतरते हैं। कथाकार यशपाल, अमृतलाल नागर जैसे उपन्यासकार मुख्यतः उथल-पुथल ग्रस्त समकालीन भारतीय समाज पर स्वयं को केन्द्रित करते हैं। भारतीय समाज की असंगतियों पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण इन लेखकों की दृष्टि आलोचनात्मक है। इनका साहित्य इस रूप में आलोचनात्मक यथार्थवाद की परिधि में आता है। उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे लेखक भी मुझे इसी समूह के लेखक लगते हैं। तात्कालिकता और समकालिकता उनकी विशेषता कही जा सकती है। हमारे आज के लेखक और कवि भी मुख्यतः इसी स्वभाव के लेखक हैं। एकाध-दो अपवादों को अगर छोड़ दें तो ये बातें कहते हुए यह कहना भी मुझे ज़रूरी लगता है कि अश्क एक पूर्णकालिक लेखक थे। कई स्तरों पर वे लेखक की लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। इसलिए वे प्रकाशक के रूप में भी सामने आए। बरसों तक इलाहाबाद में वे लेखक से अधिक एक संस्था की तरह अपनी उपस्थिति जताते रहे। उस ज़माने में लेखकों का एक घेरा भी उनके इर्द-गिर्द बना रहा। कमलेश्वर और धर्मवीर भारती जैसे अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक इसमें शामिल रहे। नीलाभ प्रकाशन भी उन दिनों के इलाहाबाद का एक बहुचर्चित प्रकाशन रहा। नए लेखकों की अगवानी करने उन्हें प्रोत्साहन देने उनकी प्रतिभा को पहचानने में भी अश्क जी ने कभी उदासीनता नहीं प्रदर्शित की। न कभी शिथिल समाधि वे हुए।

हिन्दी एकांकी रंगमंच का इतिहास तो उनके बगैर लिखा ही नहीं जा सकता। अपने एकांकियों और नाटकों में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया उस पर टिप्पणी करते हुए कमलेश्वर ने लिखा- नाटक लिखने में अश्क जी ने 'एक भी शब्द, वाक्य खण्ड अथवा वाक्य ऐसा नहीं जो बोला न जा सके, बोले जा सकने के इस गुण ने उसकी साहित्यिकता को कम नहीं किया, बढ़ाया ही है। इस सरल और बोधगम्य भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियाँ ऐसे नगीनों सी जड़ी हैं, जो आँखों में अनायास नहीं खुबते वरन अलंकार का अंग बन जाते हैं।' (अलग-अलग रास्ते, मूल्यांकन शीर्षक से)।

अंततः यह कहना ज़रूरी लगता है कि वे एक समाज-समर्पित और समाज-सचेत लेखक थे। गतिशील जीवन मूल्यों में उनकी आस्था थी और वे एक ऐसी हिन्दी भाषा के निर्माण में लगे हुए थे जो जितनी विचारोत्तेजक हो, उतनी ही भावपूर्ण और सुन्दर भी।

यह जगजीत की आवाज़ का जादू है। उसमें एक माँ की मिठास है, पिता के प्रेम का सौंदर्य है, किसी गहरे प्रगाढ़ रिश्ते जैसी कोमलता है। उनकी आवाज़ घाव पर मरहम की तरह है। वह आप तक आती है और बिना कुछ लिए, मांगे वापस चली जाती है। यही वह जादुई आवाज़ थी, जो हमेशा-हमेशा के लिए शांत हो गई।

घाव पर मरहमी आवाज़

स्मृति शेष : **जगजीत सिंह**

शायद ही कोई और गायक ग़ज़ल के साथ इस कदर एकाकार जितने कि ग़ज़ल गायक जगजीत सिंह। खुशी और शरारत, दोनों उनके साथी थे। जब वे अपनी जादुई आवाज़ से श्रोताओं को अपने आगोश में बांध रहे होते थे तो एक शरारत सी उनकी आँखों में चमक उठती थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पूरी दुनिया में आधे अरब से ज़्यादा लोग उनके दीवाने हैं। जाने-माने कवि निदा फ़ाज़ली कहते हैं, ''यह जगजीत की आवाज़ का जादू है। उसमें एक मां की मिठास है, पिता के प्रेम का सौंदर्य है, किसी गहरे प्रगाढ़ रिश्ते जैसी कोमलता है। उनकी आवाज़ घाव पर मरहम की तरह है। वह आप तक आती है और बिना कुछ लिए, मांगे वापस चली जाती है।'' यही वह जादुई आवाज़ थी, जो हमेशा-हमेशा के लिए शांत हो गई। जब वे छोटे-से शहर गंगानगर से अपनी क़िस्मत आज़माने मुंबई महानगर में आए थे तो एकदम युवा थे। फिर उन्होंने बेशुमार शोहरत और सफलता बटोरी और संगीत की दुनिया में अपना मुकाम बनाया।

शास्त्रीय गायिका रीता गांगुली कहती हैं, ''मुझे याद है कि महान गायिका बेग़म अख़्तर से ग़ज़लों की रिकॉर्डिंग के लिए एचएमवी में उनका परिचय करवाया था। वे उस दौर में आए थे, जब ग़ज़ल के लिए तलत महमूद की आवाज़ एक तयशुदा रूप अख़्तियार कर चुकी थी। तब फिल्मी संगीत में एक किस्म का धीमा ठहराव था और जगजीत सिंह अपनी गीतनुमा ग़ज़लों के साथ संगीत की दुनिया में हवा के ताज़े झोंके की तरह आए। उनकी आवाज़ में एक अनूठापन था। वह अपनी तरह की निराली आवाज़ थी। आप किशोर कुमार या मुहम्मद रफ़ी की नकल कर सकते हैं, लेकिन जगजीत की आवाज की नकल नहीं की जा सकती। यही कारण है कि जगजीत सिंह तो सिर्फ एक ही रहेगा।''

जगजीत सिंह में यह अंतर्बोध था कि श्रोता क्या चाहते हैं, थोड़ा-सा साथ, साझेदारी और उत्साह, उनके सभी संगीत कार्यक्रमों में यह बात होती थी। वे श्रोताओं के साथ काफी सहज थे। वे जानते थे कि उनको संगीत के झोंकों में कैसे बहा ले जाना है। जैसे कि वे श्रोताओं को भी अपने साथ गाने के लिए कहते या कोरस के साथ-साथ खुद भी गाते थे। संप्रेषण की उनकी कला और तकनीक कमाल की थी। वे कहते थे, ''मेरे गाने की कला, गीतों और कविताओं का चयन और सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है श्रोताओं के साथ संवाद, पता है, लालू प्रसाद यादव का इतना नाम क्यों? क्योंकि वे न सिर्फ आम आदमी के साथ, बल्कि संसद में और टेलीविजन पर भी बेहतर संवाद करते हैं। यह किसी भी कलाकार की मूल अंतर्वस्तु है।'' उनका कहना बिल्कुल सही था। जब पॉप संगीत, रीमिक्स और आइटम गीतों के ज़माने में वास्तविक संगीत के लिए अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया और ग़ज़ल का महत्व कम होने लगा तो उन्होंने अपने वीडियो लांच किए, वे एक ऐसे ग़ज़ल गायक बन गए, जिनका वीडियो भी था। उनका कहना था, ''आज दृश्य चीज़ों का ज़माना है। आज संगीत सुना नहीं, देखा जाता है। एक दौर था, जब सिर्फ आवाज़ और संगीत हमारी पहचान थी, लेकिन अब हमें वीडियो पर दिखना पड़ता है, अपने एल्बम को प्रमोट करने के लिए कॉन्सर्ट करने पड़ते हैं, क्योंकि यही बिकता है। दुर्भाग्य से हम भी इन चीजों की जकड़बंदी में फँस गए हैं।'' वे आधुनिक बाज़ार को बख़ूबी समझते थे और उसी के मुताबिक अपने संगीत को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने कोशिशें भी कीं, उन्होंने परंपरा से अलग हटकर एक काम यह भी किया कि अपने कॉन्सर्ट में गिटार और वॉयलिन जैसे वाद्ययंत्रों को शामिल किया। उन्होंने यह इसलिए किया क्योंकि उन्हें अपने संगीत में वाद्ययंत्रों और ध्वनियों का वैविध्य उत्पन्न करना महत्वपूर्ण लगा। उनके

रागों के साथ सोती थी जगजीत की रात

मेरे ज़ेहन में उनके घर का वह कमरा आज भी तरोताज़ा है जैसा सालों पहले था। हर सुबह पाबंदी से यह खुलता है और अगरबत्तियों की सुगंध से महकाया जाता है। उसमें हर चीज़ उसी तरह से रखी है जैसे कई सालों पहले उनका इकलौता बेटा विवेक छोड़ गया था और फिर कभी नहीं लौटा। भगवान ने जगजीत से विवेक को भले ही छीन लिया था, लेकिन वे उसे आज तक जीवित रखे हुए थे। उस कमरे में, अपने गायन में, अपने अंदाज में, अपनी आवाज में- ''तुम ये कैसे जुदा हो गए/हर तरफ हर जगह हो गए।'' आज वो ख़ुद याद बनकर ज़िंदा है अपनी आवाज़ में, अल्फ़ाज़ में, अपने अंदाज़ में।

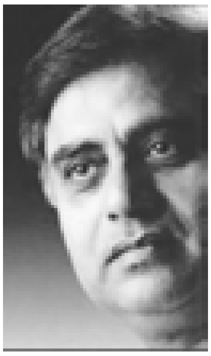

जगजीत से मेरी दोस्ती की उम्र उतनी ही है, जितनी कि मेरी ग़ज़ल- 'दुनिया जिसे कहते हैं, बच्चों का खिलौना है, मिल जाए तो मिट्टी है खो जाए तो सोना है' की। इस ग़ज़ल को किसी महफिल में जगजीत ने गाया था और इसे चित्रा सिंह के साथ दो गाने के रूप में रिकॉर्ड कर लिया था। मुझे इसकी सूचना नहीं मिली क्योंकि उन दिनों मेरा कोई ठिकाना नहीं था। लेकिन मेरे हाथ एचएमवी का चेक आया था। यह ग़ज़ल उनके एलबम कम अलाइव में शामिल है। जगजीत से मेरी दोस्ती में मेरी ग़ज़लों के अलावा मेरे हमवतन तानसेन घराने से उनके संबंध की भूमिका से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

जगजीत ने केवल भविष्यवाणी पर भरोसा नहीं किया। ख़्वाब को हक़ीक़त बनने में लगातार मेहनत से काम भी लिया। सुबह तानपुरे से शुरू होती थी और रात भी रागाभ्यास के साथ सोती थी। इन सुबहों और रातों के बीच उनकी जीवन कथा नए-नए रंग बदलती रहती। उनके संगीत का सफ़र तलत महमूद और मेहंदी हसन की गाई हुई ग़ज़लों को दोहराने से प्रारंभ हुआ था। मुझे याद है जब जगजीत का चेहरा बिना पगड़ी और दाढ़ी के साथ दुनिया के सामने आया तो उन्हें देखकर मशहूर पत्रकार खुशवंत सिंह को उनके चेहरे में दिलीप कुमार की छवि नजर आई थी।

- निदा फाज़ली (नवीन कुमार को बताया)

कॉन्सर्ट में उपस्थित होना अपने आप में एक संपूर्ण, आत्मा को समृद्ध करने वाला अनुभव होता था। उन्होंने परंपरा से हटकर एक काम और किया। उन्होंने अपने एल्बम क्लोज टू द हार्ट में लता मंगेशकर, मुकेश, हेमंत कुमार, तलत महमूद और किशोर के 50, 60 और 70 के दशक के प्रसिद्ध गीत गाए, इसकी काफी आलोचना भी हुई, लेकिन चाहने वालों ने इसे हाथों-हाथ लिया। ग़ज़ल का बादशाह पुराने दौर के गीत क्यों गा रहा है? उन्होंने जवाब दिया, ''अगर लता मंगेशकर और आशा भोंसले ऐसा कर सकती हैं तो फिर मैं क्यों नहीं?'' वे अपनी तरह के विद्रोही भी थे। मिर्ज़ा ग़ालिब जैसे प्रतिष्ठित शायरों को जनमानस में लोकप्रिय बनाने के अलावा उन्होंने नए कवियों को लोकप्रिय बनाने का काम भी किया।

जीवन में घटी त्रासदियों ने बाद के दिनों में उन्हें अलग तरह का इंसान बना दिया था। पहले 21 वर्षीय बेटे विवेक की एक कार दुर्घटना में मौत हो जाने और फिर सौतेली बेटी की मृत्यु के बाद वे काफ़ी बदल गए, वे कुछ आध्यात्मिक हो गए थे और कहते थे कि संगीत ही वह एकमात्र मरहम है, जो उन्हें उनके दुखों से निजात दिला सकता है। बाद के दिनों में उन्होंने आध्यात्मिक एल्बम जैसे हे राम, गुरबानी, कृष्णा आदि निकाले। जो सभी के सभी काफी हिट रहे। यही उनके संगीत और उनकी आवाज़ का जादू था। संतूर वादक पंडित शिवकुमार शर्मा कहते हैं, ''उन्होंने ग़ज़ल को एक नया मोड़ दिया।'' वे ग़ज़ल के भविष्य को लेकर चिंतित थे। वे कहते थे कि ग़ज़ल गायक को कविता और संस्कृति की भी समझ होनी चाहिए। आजकल तो कोई भी कुछ भी गा रहा है। उसमें कोई विवेक, समझ और संतुलन नहीं है। पुराने दिनों में ऑल इंडिया रेडियो में आवाज़ का ऑडीशन होता था और आप जो कविता गाते थे, उसे भी कवि जाँचते थे। वह जिम्मेदारी का काम होता था। मुझे तो इस बात की चिंता है कि आने वाले समय में हमारी संस्कृति का क्या होगा? हमारी आने वाली पीढ़ियों का क्या होगा? म्युजिक कंपनियां गायकों और कलाकारों के साथ जिस तरह का व्यवहार करती हैं, उसे लेकर भी वे काफी दुखी रहा करते थे।

ग़ज़ल गायकी के साथ-साथ उन्होंने अपने समय की कई बेहतरीन फिल्मों का संगीत भी तैयार किया। फिल्मों में दिया गया उनका संगीत सबसे अलग और अनूठा था। उनके संगीत की एक अलग पहचान बनी। उनका संगीत मधुर होता था और गीतों के शब्द बहुत अर्थपूर्ण हुआ करते थे। जीवन के आख़िर के कुछ वर्षों में वे अपने ही भीतर के कलाकार को पार नहीं कर पाए, लेकिन जो भी हो, हिन्दी सिनेमा में उनके गाए गीतों की एक लंबी श्रृंखला है, जो दुख में डूबे हुए उदास दिलों को राहत और आराम पहुंचाने का काम करती है। उनके ऊपर सचमुच ईश्वर की कृपा थी। कुछ लोगों का तो कहना है कि ईश्वर ने उनके गले के लिए खासतौर पर संगीत के तार निर्मित किए थे। और यही एक चीज़ थी, जो उन्हें बाकी सभी गायकों से अलग करती थी। वह सुनहरी जादुई आवाज़ वाले संत आत्मा थे: तुम चले जाओगे तो सोचेंगे, हमने क्या खोया हमने क्या पाया। अफ़सोस! हमने बहुत कुछ खो दिया।

-एस. सहाय रंजीत (इंडिया टुडे)

जुगलबंदी : शायर-सिनेकर्मी गुलज़ार और जगजीत सिंह

नायाब थे सारंगी के 'सुल्तान'

स्मृति शेष : **उस्ताद सुल्तान खाँ**

जिस उम्र में ज़्यादातर बच्चे अपने हाथ में ठीक से कलम पकड़ना सीख रहे होते हैं, उन्होंने सारंगी पर उंगलियां चलानी शुरु की थीं। तब उन्हें कुश्ती और फुटबॉल खेलना भी बहुत भाता था। लेकिन पिछली कई पुश्तों की तरह सारंगी से प्रेम करने वाले उनके पिता उस्ताद गुलाब ख़ान को लगा कि उनके बेटे की उंगलियों में भी वही जादू है। सो, सुल्तान ख़ान अब सारंगी के तारों से खेलने लगे और महज ग्यारह साल की उम्र में उन्होंने लोगों के सामने अपना एकल संगीत पेश किया। और ज़ाहिर है कि फिर वे पीछे नहीं मुड़े। यह अलग बात है कि इस बेमिसाल सारंगिया को अपने देश में जितनी वाहवाही मिली, उसके मुक़ाबले पश्चिमी दुनिया ने उन्हें बहुत ज़्यादा शोहरत दी। हमारे यहां साज़िंदों के लिए अपनी वाजिब जगह हासिल करना काफ़ी जद्दोज़हद भरा रहा है, जबकि पश्चिम में मुख्य फनकारों के साथ संगत करने वालों को भी बराबर की इज़्ज़त मिलती है। सुल्तान ख़ान ने जिस बारीकी से सारंगी को साधा, अपने खुश्क गले को भी उन्होंने उतनी ही कारीगरी से तराश कर ऐसा बनाया कि बाद में शहद घुली आवाज़ में सुर निकले। वे कहते भी थे कि मेरा रियाज़ नहीं गाता, मेरी रूह गाती है। यह तथ्य बहुतों के लिए अनजाना होगा कि सारंगी के बेहतरीन सुरों के सर्जक पंडित रामनारायण का यह शागिर्द अपनी अलग तरह की आवाज़ के लिए भी मशहूर हुआ।

सुल्तान ख़ान में सीखने की अदम्य ललक थी। बड़े गुलाम अली ख़ान, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, फ़ैयाज़ ख़ान, सिद्धेश्वरी देवी, इन सबसे उन्हें जितना मौका मिला, बड़ी लगन से सीखा। आज कोई भी उनके संगीत में अलग-अलग घरानों के तत्व को आसानी से पहचान सकता है। जिन तीन घरानों- आगरा (फ़ैयाज़ ख़ान), पटियाला (बड़े गुलाम अली ख़ान) और इंदौर (उस्ताद आमिर ख़ान)- ने उन पर सबसे ज़्यादा असर डाला, उनकी अलग-अलग शैलियों में तीन रागों पर आधारित एक ख़ास एलबम उन्होंने तैयार किया। एक सारंगीवादक के रूप में पहचान बनाने के बाद सुल्तान ख़ान ने 'पाकीज़ा' और 'उमराव जान' सहित कई फिल्मों के संगीत में भी अपनी न भूलने वाली मौजूदगी दर्ज कराई। लेकिन संजय लीला भंसाली की फिल्म 'हम दिल दे चुके सनम' ने उनके सफ़र मे एकबारगी जो मोड़ दिया, उसके बाद उन्होंने 'अलबेला साजन आयो रे...' और उससे आगे 'पिया बसंती रे...' के जरिए दिल से निकले हुए ख़ूबसूरत सुरों के एक ख़ास शाहकार का स्थायी दर्जा हासिल किया। संगीत की अपनी कारीगरी के साथ उन्होंने लता मंगेशकर और ख़य्याम जैसी शख़्सियतों के साथ काम किया तो अपने एलबम 'उस्ताद ऐंड द दिवास' में श्रेया घोषाल और सुनिधि चौहान जैसी नई पीढ़ी के साथ नेपथ्य से आलाप देकर अपनी कला के जलवे बिखेरे। दुनिया के एक मशहूर संगीत समूह 'द बीटल्स' के साथ कार्यक्रम पेश करने में भी उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई। पुराने और नए के साथ यह तालमेल उनके कलात्मक लोच को ही दर्शाता है। एक बार उन्होंने कहा था कि मैंने जो भी गाया, प्यार से गाया। शायद इसी 'प्यार' ने उन्हें सूफ़ी संगीत के शाहकार नुसरत फ़तेह अली ख़ान का अज़ीज़ बनाया। कई पुरस्कारों से नवाज़े गए उस्ताद सुल्तान ख़ान की संगीत के लिए दीवानगी का अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि उनके लिए वक़्त, जगह या माहौल जैसी बंदिशें कोई ख़ास मायने नहीं रखती थीं। वे कहते थे, मेरे लिए सुरों की इबादत हर जगह एक जैसी है। उनके सुर और सारंगी के साथ ने इसे साबित भी किया।

पिछले दो साल से बीमार चल रहे थे। उन्हें मधुमेह (डाइबिटीज) रोग भी था। इसके कारण तीन महीने पहले उनके गुर्दे में खराबी हो गई थी। उस्ताद को मुंबई के एक अस्पताल में भर्ती कराया गया था, लेकिन पिछले कुछ समय से जुहू विले पार्ले स्कीम स्थित उनके निवास पर ही उन्हें डायलेसिस पर रखा गया। ज्यादा तबीयत बिगड़ने पर उन्हें अस्पताल ले जाया गया, लेकिन रास्ते में ही उनका निधन हो गया। आख़िरी वक़्त में उनके पुत्र साबिर ख़ान और भतीजे इमरान ख़ान उनके साथ थे।

इंदौर के संगीत घराने की नौंवी पीढ़ी से ताल्लुक रखने वाले सुल्तान ख़ाँ ने तीन विवाह किए। उनकी पहली पत्नी सारंगी वादक मुनीर ख़ाँ की पुत्री बैतूल, दूसरी फिल्म अभिनेत्री उमा और तीसरी पत्नी बानो थी। पुत्र साबिर और दो पुत्रियां उनकी तीसरी पत्नी की संतान हैं। मात्र सात साल की उम्र से ही पिता गुलाब ख़ाँ से संगीत की तालीम लेने वाले सुल्तान ख़ाँ ने उनके साथ संगत एलबम किया था। अपने पिता की याद में ही उन्होंने उस्ताद गुलाब ख़ाँ एचीवमेंट अवार्ड भी शुरू किया था। संगीत-सितारों को दिया जाने वाला यह अवार्ड पहले-पहल तबला नवाज़ उस्ताद जाकिर हुसैन को दिया गया था। दूसरा समारोह आगामी १५ जनवरी को जोधपुर में होगा। यह अवार्ड उस्ताद अमजद अली ख़ां को दिया जाएगा।

फिल्म हम दिल दे चुके सनम में अलबेला सजन... तथा पिया बसंती रे... जैसे गीतों को स्वर देने के अलावा क़रीब आधा दर्जन फिल्मों में भी उन्होंने अपनी गायकी का जादू बिखेरा। इसके अलावा कई म्यूजिक एल्बम्स में भी उन्होंने अपनी आवाज़ दी। इसके अलावा सैकड़ों फिल्मों में उन्होंने संगीत दिया। उस्ताद ने 15 जनवरी 2011 को जोधपुर के मेहरानगढ़ फोर्ट में उस्ताद जाकिर हुसैन के साथ अपनी अंतिम प्रस्तुति दी थी। छह माह पूर्व अपने पुत्र साबिर ख़ाँ के साथ द लेगसी एल्बम तैयार किया। जिसका विमोचन ख्यातनाम ग़ज़ल गायक स्व. जगजीतसिंह ने किया था। रीमिक्स और फ्यूजन को क्रियेटिविटी की दृष्टि से सही मानने वाले उस्ताद ने नई पीढ़ी की फिल्मों- जब वी मेट, मिस्टर एण्ड मिसेज अय्यर, अग्निवर्षा, राहुल, हीट एण्ड डस्ट, मक़बूल तथा मातृभूमि में भी अपने फ़न का जादू बिखेरा। इस्माइल दरबार के साथ हम दिल दे चुके सनम में अलबेला सजन आयो री... काफी लोकप्रिय रहा। नुसरत फ़तेह अली ख़ाँ के साथ संगत की इच्छा उस्ताद पूरी नहीं हो सकी। *(जनसत्ता)*

विराट को पुकारता गायक

जयदीप कर्णिक

कुछ ही गायक हैं, जिनके गले से निकली आवाज़ उनकी अपनी, यानी उनकी दैहिक ध्वनि की अभिव्यक्ति न होकर अलौकिक स्वरों की गूँज प्रतीत होती है। 'भूपेनदा' ऐसे गायकों में से एक नहीं बल्कि प्रमुख हैं। भूपेनदा का नाम ज़हन में उभरते ही स्मृति बहुत पीछे बचपन में जाकर एक बहुत मधुर लोकगीत को खींचकर ले आती है 'जगाए जीवन तार, खोल रे सब दुबार, हे-हे हय्या के राम राम।' बहुत पहले दूरदर्शन पर एक धारावाहिक आता था 'लोहित किनारे।' ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसे लोगों की लोकगाथाओं पर आधारित इस धारावाहिक की शुरुआत और आख़िर में यह लोकगीत बजता था। बस, तभी से वह स्मृतियों में बस गया। यह संगीत का जादू है। वह भाषा आती नहीं, उसका भाव मालूम नहीं, लेकिन बस, यह गीत और उसकी धुन मन को मस्त और चित्त को आल्हादित कर देती है। ...और रविवार 18 फरवरी (2001) की शाम भूपेनदा ने स्मृतियों में बसे इस लोकगीत के एक-एक पल को जीवंत और सार्थक कर दिया। उन्हें देखना, उन्हें सुनना किसी दिव्य अनुभव से कम नहीं। उनकी पूरी शख़्सियत महानता को परिभाषित कर रही थी। इतने ऊँचे ओहदे का फ़नकार और ऐसी सादगी। नज़रें उन्हें बार-बार निहार रही थीं। उनके दैदीप्यमान प्रभामंडल का ओज आत्मा के सूखे कंठ में रिस-रिसकर अद्‌भुत तृप्ति प्रदान कर रहा था।

स्मृति शेष : **भूपेन हजारिका**

भूपेनदा के स्वरों में निकले असमिया संत शंकरदेव के भक्तिपद ने आध्यात्मिक अनुभूति को चरम पर स्थापित कर दिया। वे भारत के सच्चे सांस्कृतिक दूत भी हैं। उन्होंने कहा कि भारत तो तीन 'क' के त्रिकोण में समाया हुआ है कश्मीर, कन्याकुमारी और कामरूप। और जब भूपेनदा की आवाज़ में पहले असमी और फिर बंगाली की शुरुआती पंक्तियों के बाद हिन्दी में स्वर गूँजे- 'विस्तार है अपार/प्रजा दोनों पार/कहे हाहाकार/निःशब्द सदा/ ...ओ गंगा तुम/ओ गंगा बहती हो क्यूँ... तो ऐसा लगा कि हम इंदौर के अभय प्रशाल में नहीं बहुत दूर घनी, हरियाली से आच्छादित पहाड़ी पर बनी गहरी घाटी के शुरुआती छोर पर खड़े हों और... अंदर घाटी में बहते एक वेगवान झरने की कलकल हमारे कानों में पहुँच रही हो। और कानों में पड़ती इस आवाज़ को सुनते हुए ही हम पहाड़ी के कोने पर खड़े-खड़े आँखें मीचकर लम्बी गहरी साँस लेते हैं और ईश्वर के उस अंश को क्षण भर के लिए छूने में सफल हो जाते हैं जिसे भूपेनदा ने अपनी संगीत तपस्या से संपूर्ण रूप में पा लिया है। पचहत्तर वर्ष की उम्र में खराब स्वास्थ्य के बावजूद जिस शिद्दत से, जिस अपनत्व से भूपेनदा ने अपनी प्रस्तुति दी, वह आत्मा की उम्र और शरीर की उम्र के अंतर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

लता अलंकरण समारोह में दरअसल भूपेनदा एक बहुत बड़ा, गंभीर और महत्वपूर्ण संदेश दे गए। यदि इस संदेश को संगीत-जगत सही मायनों में ग्राह्य करता है तो निःसंदेह एक बार फिर संगीत अपने सही मायनों और आत्मिक उच्चता को प्राप्त कर पाएगा। भूपेनदा बोले 'पीछे सौ-पचास इलेक्ट्रिक गिटार बज रहे हों, बीस पच्चीस ड्रम बजते हों तो मैं गा नहीं सकता। मुझे तो हल्का, प्रकृति का संगीत पसंद है। भूपेनदा की खरज भरी आवाज़ में श्रोता डूब जाते। वे भी कभी तो हारमोनियम छोड़कर ताली से तो कभी चुटकी से ठेका देकर गाते। उनके गीतों में साज़ केवल सहायक होते हैं।

अगले दिन (19 फरवरी 2001) को जब भूपेनदा से 'नई दुनिया' कार्यालय में मिलने का सौभाग्य मिला तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। आत्मा ने दौड़ लगा दी उनसे मिलने के लिए। सच में आप जब किसी वास्तव में महान व्यक्ति से मिलते हैं तो आपके शरीर का रोम-रोम इसकी गवाही देता है। आत्मा प्रफुल्लित हो जाती है। अच्छे व्यक्तियों की पलभर की संगत भी आपके मन की मलीनता को धो डालती है। महानता थोपने की नहीं महसूस करने की चीज़ है, यह भूपेनदा से चंद लम्हों की मुलाकात ने ही स्पष्ट कर दिया। उनकी सादगी और संगीत-प्रेम देखकर श्रद्धा और आस्था का सोता उमड़-उमड़ आया और मन उनके चरणों में बिछ गया। (नई दुनिया)

अनंत यात्रा पर निकला 'गाइड'

राजकपूर, देवानंद और दिलीप कुमार को शामिल कर हिन्दी सिनेमा का जो त्रिकोण 50 के दशक में बना था, उसका दूसरा कोण भी आज इतिहास हो गया। उस चर्चित त्रयी में यह देवानंद ही थे जिनमें बरबादियों तक का जश्न मनाने का साहस था।

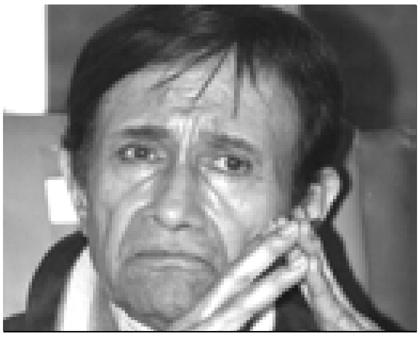

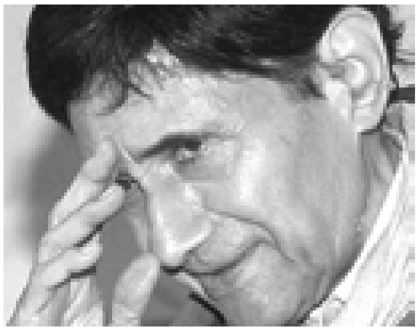

स्मृति शेष : **देवानंद**

छह दशक से भी ज़्यादा लंबे वक्त तक हिन्दी सिने प्रेमियों के दिलों पर खम ठोंक कर राज करने वाले देवानंद को ले जाने के लिए मौत ने रविवार (4 दिसंबर) का दिन चुना और वह भी तब जब वह नींद में गाफिल थे। लंदन में सोते वक्त ही वह उन्हें दिल के दौरे के बहाने अपने साथ ले गई। खौफ था कि कहीं यह सख्तजान उठ कर ललकार न दे।

जागी आंखों से उम्र भर सपने देखने वाले सदाबहार देवानंद उम्र के 88 साल पार कर चुके थे जब उनके साथ यह वाकया पेश आया। देवानंद का स्वास्थ्य पिछले कुछ दिनों से ठीक नहीं था और वह मेडिकल चेकअप के लिए लंदन आए हुए थे। उन्हें दिल का दौरा पड़ा। उन्हें पास के एक अस्पताल ले जाया गया, जहाँ डाक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया। जब उन्होंने अंतिम सांस ली उस समय उनके पुत्र सुनील उनके पास थे।

देवानंद की मौत सचमुच एक वाकया ही है- पढ़ने और भूल जाने के वास्ते क्योंकि देवानंद जैसे लोग कभी मर ही नहीं सकते। वे मरेंगे तो वह दुनिया मर जाएगी जिसे उन्होंने आबाद किया था, जिसका मुहावरा उन्होंने गढ़ा था, जिसकी दीवानगी, जिसकी नफरत, जिसकी चाहत-सबके अलग मायने होते हैं। इस फानी दुनिया से एकदम अलग। असली दुनिया जैसी लगती हुई भी असली दुनिया से एकदम अलहदा। राजकपूर, देवानंद और दिलीप कुमार को शामिल कर हिन्दी सिनेमा का जो त्रिकोण 50 के दशक में बना था, उसका दूसरा कोण भी आज इतिहास हो गया। उस चर्चित त्रयी में यह देवानंद ही थे जिनमें बरबादियों तक का जश्न मनाने का साहस था।

प्रेम की पूजा करने वाले व्यक्ति थे : देवानंद और प्रसिद्ध गीतकार गोपालदास नीरज के बीच अटूट रिश्ता था जिसे दोनों ने खूब निभाया। पिछले साल अपनी फिल्म चार्जशीट के सारे गाने देव साहब ने नीरज से ही लिखवाए थे। नीरज बताते हैं कि सन् 1954-55 की बात है। एक कवि सम्मेलन में देव साहब चीफ गेस्ट बनकर आए थे। मेरी कविता उन्हें पसंद आई। मेरे पास आए और बोले- नीरोज आई लाइक यूअर लैंग्वेज। सम डे वी विल वर्क टूगेदर।

कुछ दिन बाद एक पत्रिका में देव साहब की नई फिल्म 'प्रेम पुजारी' के बारे में छपा देखा। पढ़कर उन्हें पत्र लिखा और उनकी बात याद दिलाई देव साहब ने भी वादा निभाया। मुझे तत्काल मुंबई बुलाया। वहाँ एसडी बर्मन से मुलाकात कराई। बर्मन दा ने रंगीला रे की धुन सुनाई। देव साहब ने मुझसे इस धुन पर गीत लिखने को कहा। रात भर बैठकर, रंगीला रे तेरे रंग में यूं रंगा है मेरा मन, गीत लिखा। सुबह जब उन्हें सुनाया तो उन्होंने मेरा हाथ चूम लिया। तबसे ही उनके साथ फिल्म लाइन में हो लिया। देव साहब को म्यूजिक का भी बहुत ज्ञान था। तभी तो 'प्रेम पुजारी' के गीत फूलों के रंग से दिल की कलम से, के एक अन्तरे में एक ऐसी कल्पना का प्रयोग हुआ जो संभवतः हिन्दी फिल्मों के लिए नई थी- ''सांसों की सरगम, धड़कन की वीणा, सपनों की गीतांजलि तू/दिल की गली में, महके जो हरदम, ऐसी जूही की कली तू।'' प्रेम पुजारी के बाद तो ये सिलसिला अनवरत जारी रहा। गैंबलर के सारे गीत सुपरहिट हुए। ''दिल एक शायर है गम आज नगमा है,'' आज भी लोगों की जुबां पर है। वह सच में प्रेम के पुजारी थे। वादे के पक्के। शालीन। **-धीरेन्द्र**

नौटंकी का नायक

सुनील मिश्र

नौटंकी के लिए अपना जीवन समर्पित कर देने वाले पंडित सिद्धेश्वर अवस्थी अब इस दुनिया में नहीं हैं। वे काफी समय से पक्षाघात से ग्रस्त थे। मगर उनकी याददाश्त ज्यों की त्यों थी। नौटंकी विशेषज्ञ के रूप में उनकी अपार प्रतिष्ठा और मान-सम्मान रहा है। उनका जीवन विविध और मान-सम्मान भरा रहा है। उनका जीवन विविध आयामों से जुड़ा रहा है। वे कानपुर में सांस्कृतिक पत्रकारिता के जनक होने के साथ-साथ चित्रकार, शिल्पकार और उपन्यासकार भी थे। उन्होंने नीलकंठ नामक एक उपन्यास की रचना भी की थी। शिल्पकार के रूप में उनकी बनाई मूर्तियां सराही और संग्रहीत की जाती थीं। विशेषकर बड़े जटाधारी नारियल पर शिव की आकृति उत्कीर्ण करने का उनका कौशल अनूठा था।

स्मृति शेष : **पं. सिद्धेश्वर**

उनका जन्म 18 मार्च 1924 को उत्तरप्रदेश के फ़तेहपुर ज़िले के ग्राम भिटौरा में हुआ था। छोटी उम्र में ही वह अपनी माँ के मधुर कंठ से बेहद प्रभावित थे। उनकी माँ उस समय प्रचलित रीति-रिवाज़ों के अनुसार धार्मिक कार्यक्रमों, पारिवारिक और मांगलिक उत्सवों में बहुत अच्छे गीत और भजन गाया करती थीं। वे अपनी आरंभिक प्रेरणा अपनी माँ को ही मानते थे और कहते थे कि उनकी आवाज़ और संगीत दोनों से मुझे लिखने और उस आनंद को समझने का रुझान विकसित हुआ। युवावस्था में वे संगीत कार्यक्रमों में एक जिज्ञासु और एक रसिक की तरह जाया करते थे। यहीं के अनुभवों और रसानुभूति ने उनको राग-रागिनियों के प्रति अनुराग तक पहुंचाया। इस रुझान के साथ ही नौटंकी के प्रति उनका आकर्षण भी युवावस्था में ही बढ़ा।

जब वे उन्नीस वर्ष के थे तब ही कृष्ण विनायक फड़के के बाल रंगमंच आंदोलन से उनका नाता बना। यहीं पर उन्होंने बच्चों के लिए अनेक नाटकों का निर्देशन भी किया। पच्चीस वर्ष की उम्र में उन्होंने अपने जीवन का पहला नाटक खेला जिसका निर्देशन, रंग-रूप सज्जा, संगीत आदि का निर्वहन उन्होंने किया। इसके दो साल बाद ही स्वरचित काव्य नाटक यशोधरा का मंचन भी सराहनीय प्रतिक्रियाओं के साथ उन्होंने कानपुर में किया। 1960 में दिल्ली में हुए अखिल भारतीय लोकनाट्य समारोह में उनके निर्देशन में रत्नावली नौटंकी का मंचन बेहद अहम था। यह संस्कृत नाटककार श्रीहर्ष के संस्कृत काव्य नाटक रत्नावली का रूपांतरण था। अवस्थीजी नौटंकी के क्षेत्र में परिवार के प्रबल विरोध और नाराज़गी के बाद थे। अपनी दृढ़ता और अभिरुचि की वजह से उन्होंने अपनी जगह बनाई। लेकिन लगातार उनकी प्रतिबद्धता ने उनकी गंभीरता को प्रमाणित किया और वे नौटंकी के ही होकर रह गए। वे समय-समय पर प्रसिद्ध लोकनाट्यकार स्वर्गीय श्रीकृष्ण पहलवान की संगत में भी रहे। उनसे नौटंकी कला को लेकर उनका निरंतर विचार-विमर्श और संवाद हुआ करता था। श्रीकृष्ण पहलवान के इस विधा में सघन अनुभवों का लाभ भी उनको मिला।

बाद में पंडित सिद्धेश्वर अवस्थी प्रसिद्ध नाट्य संस्था 'दर्पण' से जुड़े तो मास्साब यानी डॉ. सत्यमूर्ति जो 'दर्पण' के संस्थापक थे, से मिलकर उनकी रंगयात्रा और परवान चढ़ी। प्रसिद्ध उपन्यासकार और रंगमंच से जुड़े नाट्य शिल्पी पंडित अमृतलाल नागर से उनकी गहरी मित्रता रही। नागरजी ने अपनी आत्मकथा में एक अध्याय अवस्थीजी पर भी लिखा है। 'दर्पण' में वे नाट्यालेख, मंच-निर्माण, वेशभूषा, रंगसज्जा, संगीत वगैरह में परामर्शदाता और विशेष सहयोगी के रूप में अपनी गहन भूमिका निबाहते थे। नाटक-नौटंकी में रम जाना, पंडित सिद्धेश्वर अवस्थी के लिए जीवन भर संघर्ष का पर्याय भी रहा। विवाहित और भरे-पूरे परिवार के मुखिया के रूप में अपनी ज़िम्मेदारियों से वे कभी पीछे नहीं हटे। अपने बारे में एक बार उन्होंने बताया था कि मेरे पिता कानपुर कचहरी में मामूली स्टांप वेंडर थे। मैं वयस्क होने के बाद पारिवारिक जीवन निर्वाह के लिए तमाम फुटकर कार्य करता था, जैसे पुस्तकों के कवर डिजाइन करना, अपनी छोटी सी दुकान में मैनपुरी तंबाकू बनाकर बेचना, चित्रकला, मूर्तिकला, शादी-विवाह मंडपों में पुष्प सज्जा और आकल्पन का काम, चूरन और मंजन बनाने का काम। ख़ुद अपना घुमंतू और बेपरवाह जीवन, एक मस्त-मलंग आदमी की तरह हमेशा प्रसन्नचित्त और बात-बतकहाव के धनी पंडित सिद्धेश्वर अवस्थी अपने लोगों में सिद्धे गुरु के रूप में जाने, पहचाने और बुलाए जाते थे।

उनकी प्रकाशित रचनाओं में उपन्यास नीलकंठ, गीत नाटक कृष्णलीला, नौटंकी अग्निव्याल, सोने का फूल, मेघदूत का वस्तु शिल्प और उसका मूलाधार शामिल हैं। उनकी लगभग दस से ज्यादा अप्रकाशित नौटंकी कृतियों के अनेक बार मंचन हुए जिनमें रत्नावली, सल्तनत के दावेदार और चंद्रगुप्त शामिल हैं। उत्तरप्रदेश संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से वे दो बार पुरस्कृत हुए। पांच मौलिक गीति नाट्य और चार रंगीन छाया नाटक भी मंचन में खूब चर्चित रहे थे। मशहूर नौटंकी कलाकारों स्वर्गीय गुलाब बाई, स्वर्गीय कृष्ण बाई, नक्कारा वादक मरहूम रशीद ख़ाँ वारसी वगैरह के वे मार्गदर्शक, परामर्शदाता और शुभचिंतक रहे हैं।

करीब अस्सी वर्ष की उम्र तक सिद्धे गुरु स्वस्थ और सक्रिय रहे। अचानक पक्षाघात ने उनको छह वर्ष शारीरिक-संत्रास में रखा। यह उनका स्वाभिमान था कि अनेक आग्रहों के बावजूद उन्होंने सरकारी सहायताएं, कलाकार पेंशन आदि न मांगी न कुबूल की।

ये चारों कहानियाँ अलग भाषा और प्रांतों की हैं, पर इनके किरदारों का जज़्बा और हौसला एक है। उन्होंने थिएटर को समाज के हाशिए पर जीने वाले लोगों की जिंदगी में सार्थक बदलाव का जरिया बनाया है और नई उमंग व आशा की पटकथा लिखी है।

कोलकाता के सोनागाछी की बच्चियाँ अपने हक की बात 'कमलगंधा' नामक थिएटर समूह के जरिए कह रही हैं। असम में उल्फा के आतंक वाले इलाके टेंगला में पवित्र राभा नाटे कद के कलाकारों के साथ थिएटर कर रहे हैं। दिल्ली में गुरु सलाउद्दीन पाशा ने सैकड़ों विकलांग बच्चों को नृत्य और थिएटर से जोड़कर उनके भीतर जीने की नई उमंग और आशा भर दी है। आगरा में अनिल शुक्ला झुग्गी-झोपड़ी के बच्चों के साथ नुक्कड़ नाटकों के जरिए इन बच्चों की जन्मजात प्रतिभा को निखार रहे हैं। अपने काम से ये सभी भद्र समाज का दृष्टिकोण भी बदल रहे हैं।

विकलांगता से मुक्ति : बच्चों के साथ काम करते हुए गुरु सलाउद्दीन पाशा को लंबा समय हुआ। दो सौ से अधिक बच्चों की खूबसूरत टीम गुरुजी ने बनाई है। इन बच्चों को शारीरिक या मानसिक रूप से विकलांग कहना उन्हें सख़्त नापसंद है। वे इन्हें 'असीमित योग्यता' से लैस बच्चे कहते हैं। अपनी संस्था को उन्होंने नाम दिया 'एबिलिटी अनलिमिटेड'। गुरु पाशा इन बच्चों को हँसाते-गुदगुदाते हैं, नाचना-गाना सिखलाते हैं। वह बताते हैं, 'बचपन से ही नृत्य-संगीत में मेरी रुचि थी। उन्हीं दिनों पड़ोस में रहने वाले एक बच्चे से मिला। उसका आईक्यू कम था। संगीत ने बच्चे पर गजब असर किया। तभी समझ आया कि संगीत में चिकित्सकीय गुण हैं और सिलसिला चल पड़ा।' गुरु पाशा को 'फादर ऑफ इंडियन पर्सन विद डिसेबिलिटीज' भी कहा जाता है। कत्थक की शिक्षा उन्होंने गुरु मायाराव से ली। भरतनाट्यम का पहला प्रदर्शन उन्होंने छह साल की उम्र में किया। शारीरिक तौर पर असक्षम बच्चों के साथ 100 नृत्य तैयार करने और उनके 10 हजार से भी अधिक प्रदर्शनी के लिए उनका नाम लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड में दर्ज है।

मिसाल

पूर्वी दिल्ली के एक छोटे-से फ्लैट से चल रहे उनके डांस प्रोडक्शन हाउस में कई रंग देखने को मिलते हैं। 'वूमन ऑफ इंडिया' की तैयारी उन्होंने बधिर बच्चों और युवाओं के साथ की। भारत और फिनलैंड के बच्चों द्वारा प्रस्तुत नृत्य नाटिका रामायण ऑन व्हील्स' की दुनिया भर में चर्चा हुई। मणिपुर की थांग-टा मार्शल आर्ट से प्रेरित 'मार्शल आर्ट ऑन व्हील्स' देखकर दर्शक अचंभित रह जाते हैं। 'व्हील्स' उनके रचनाकर्म की केंद्रीय थीम है : 'सूफी डांस ऑन व्हीलचेयर', 'भरतनाट्यम ऑन व्हील', 'कर्ण ऑन व्हील', 'फ्रीडम ऑन व्हील्स' जैसी नाटिकाएं अपनी तरह की अकेली हैं। पोलियो से पीड़ित सोनु गुप्ता अपनी विकलांगता को लेकर बेहद नराश थे। 'गुरु पाशा के साथ बहुत

खुशियों का थिएटर

आशीष कुमार अंशु

कुछ सीखने को मिला, वह कहते हैं। सोनू ने पारा ओलिंपिक में जो दूसरे मुल्कों में जाकर देश का मान बढ़ाया है। सोनू जैसे सैकड़ों बच्चों को गुरुजी की वजह से जीने का मक़सद मिला।

नाटेपन का नाटक : असम में गुवाहाटी से सौ किमी दूर उदालगुड़ी जिले का टेंगला कस्बा कभी उल्फा आतंकियों की वजह से जाना जाता था। थिएटर एक्टिविस्ट पवित्र राभा ने टेंगला को एक नई पहचान दी। पवित्र टेंगला में नाटे कद के लोगों के साथ मिलकर खास तरह का थिएटर कर रहे हैं, जिसे असम में खूब सराहा जा रहा है। पवित्र फिल्मों में अपना भविष्य तलाशने की बजाए शुरू से ही कुछ अलग करना चाहते थे। वह एमए की पढ़ाई और बैंक की नौकरी दोनों को बीच में छोड़कर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में आए थे। कई भाषाओं में उन्होंने दर्जनों नाटक निर्देशित किए। 'दपॉन द मिरर' नाम से थिएटर ग्रुप शुरू किया। टोक्यो में फिजिकल थिएटर फेस्टिवल में भाग लेने से लेकर 'मुखबिर' और 'टेंगो चार्ली' जैसी हिन्दी फिल्मों में अभिनय में भी हाथ आजमाया। उनका नाटक 'व्हाट टू से' उन्हीं नाटे कद के लोगों का दर्द बयान करता है, जो इसके मुख्य आकर्षण हैं। कहानी दो दोस्तों की है। शुरुआत उनके मिलने से होती है। एक दोस्त का दर्द उसका नाटापन है और दूसरे का उसकी लंबाई। दोनों के दर्द को नाटक में खूबसूरत संवादों में पिरोया गया है।

असम में गुवाहाटी से सौ किमी दूर उदालगुड़ी जिले का टेंगला कस्बा कभी उल्फा आतंकियों की वजह से जाना जाता था। थिएटर एक्टिविस्ट पवित्र राभा ने टेंगला को एक नई पहचान दी।

नाटे कद के लोगों की तलाश और उनको थिएटर के साथ जोड़ना आसान नहीं था। ये कलाकार अलग-अलग पृष्ठभूमि से हैं और अलग अलग कामों से जुड़े हैं। ज्यादा बड़ी चुनौती थी इन्हें नाटक की प्रस्तुति के लिए तैयार करना। पवित्र को पच्चीस कलाकारों की तलाश में ढाई साल लगे। वह कहते हैं, 'नाटे कद के लोगों को समाज में हँसी का पात्र न समझा जाए। सिर्फ कद में छोटे होने की वजह से उन्हें अलग करके देखने का हमें कोई हक़ नहीं।'

राभा ने पहली बार अपने नाटक का मंचन टेंगला में किया, उन्हें खुद अंदाज़ा नहीं था कि पांच हजार लोग उस छोटे से कस्बे में नाटक देखने आएंगे, जबकि उस दिन भारत और पाकिस्तान का क्रिकेट मैच था। पवित्र ने एक-एक कलाकार पर महीनों मेहनत की। कई बार प्रायोजक नहीं मिलने पर वह जेब से पैसे लगातार नाटकों का प्रदर्शन करते। उनकी प्रतिबद्धता देखकर अब गांव के लोग छोटी-छोटी मदद लेकर सामने आने लगे हैं। जब थिएटर के लिए पन्द्रह-बीस दिनों का कैंपस लगता है तो कोई पचास किलो चावल लेकर आता है, कोई दाल। पवित्र ने एक मानवीय शारीरिक विशिष्टता को जनप्रिय रचनात्मक प्रयोग में बदल दिया है।

गुदड़ी के लाल : आगरा की इन लड़कियों की आंखों में है नुक्कड़ नाटक की मदद से समाज को बदलने का सपना। ये आर्थिक तौर पर पिछड़ा बस्ती एत्मादउद्दौला और कटरा वजीर की हैं। शाइना, संजू, हुमा और दूसरे बहुत-से बच्चे नाट्य संस्था 'संगरिला' के साथ थिएटर की बारीकियां सीख रहे हैं। संगरिला रंगकर्मी अनिल शुक्ला चलाते हैं।

अनिल पहली बार इन बच्चों से मिले, तो उनका उद्देश्य थिएटर के लिए बच्चों की तलाश करना मात्र नहीं था उन्हें इन बस्तियों के गंभीर और चिंतनशील बच्चों की ज़रूरत था। उन्होंने दर्जन भर लड़कियों की टीम खड़ी की। 2007 में पहली वर्कशॉप में कुल 55 बच्चे शामिल हुए, जिनमें सिर्फ छह स्कूल जा रहे थे। पहली बार में ही उन्होंने नाटक की थीम सोचने और नाटक तैयार करने की जिम्मेदारी बच्चों पर डाल दी। दो नाटक तैयार हुए। पहला लिंगभेद पर आधारित दूसरा साफ-सफाई पर। दोनों खूब पसंद किए गए। निर्धन बच्चों के इस थिएटर ने आगरा में आंदोलन की शक्ल अख्तियार ने आगरा में आंदोलन की शक्ल अख्तियार कर ली। अब नए बच्चे भी नाटक मंडली से जुड़े हैं।

थाकबो नॉय बंदी वे : 'कल हम वेश्याओं के बच्चे सांस्कृतिक कार्यक्रम कर रहे हैं, आप आएंगे।' कोलकाता में उम्र 15-16 वर्षीय लड़की ने बिना किसी झिझक के यह बात कही। मां वेश्या है, यह बताते हुए बिल्कुल असहज नहीं थी। उसने पूछा, एक वेश्या के घर मेरा जन्म हुआ तो इसमें मेरा कसूर क्या है? यह लड़की पिंकी दास दुर्वार समन्वय समिति नामक संस्था के सांस्कृतिक प्रकोष्ठ 'कमलगंधा' से जुड़ी है। उसके साथ और भी बच्चे हैं जो सभी उसी समाज से हैं, जिसे सभ्य दुनिया हाशिए पर रखती है। इन्हें हाशिए पर डाला किसने? यही सवाल 'कमलगंधा' के साथी नृत्य, संगीत और नुक्कड़ नाटकों की मदद से उठाते हैं। शुरुआत 1995 से हुई। ये लोग अपने नुक्कड़ नाटक के साथ सोनागाछी, बहूबाजार, सावरापुली जैसे रेडलाइट इलाकों में जागरूकता की अलख जगाते मिल जाएंगे। 1998 में जेनेवा में हुए अंतर्राष्ट्रीय एड्स महोत्सव से ये बच्चे नाटक का प्रथम पुरस्कार लेकर आए। पिंकी कहती है 'थाकबो नॉय बंदी ते' (रहेंगे नहीं इस बंधन में)। वह और उसके साथी व्यक्ति या समाज से नहीं, एक प्रवृत्ति से लड़ रहे हैं।

सच्चिदानंद जोशी की कविताएँ

नांदी पाठ

शुरू हो गया नांदी पाठ,
अब सजाना है तुम्हें नाटक।
पहले से लिखे गये आलेख को
जीवन्त करना है अब।

तोड़कर शाश्वत प्रतिमायें,
बनाने हैं नये कीर्तिमान,
सजे हुए रंगमंच पर।

करना है, एक नये संसार का सृजन
कल्पना, रचना और आकांक्षा
खीचेंगे सभी अपनी ओर तुम्हें,
महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा के
आकर्षण उकसायेंगे
तोड़ने रंगमंच का अनुशासन।

लेकिन रंगमंच शाश्वत है,
खेला जाने वाला नाटक शाश्वत है,
और शाश्वत हैं उसके
अनुशासन और नियम।
खेलो जैसे खेलना है
जीतो अनगिनत प्रशंसा के स्वर।

पर ध्यान रहे
नियम और अनुशासन की लक्ष्मण रेखा का।
विस्तार तो अनंत है,
संभावनायें अपरिमित
लेकिन हर कोशिश में
पैर ज़मीन पर ही हो स्थित।

मध्यांतर

ये मध्यांतर है,
महत्वाकांक्षाओं को विराम दो।
छोड़ दो अश्व ढीले
राजसूय जीवन यज्ञ को।

सुस्ता लेने दो कल्पना को
आकांक्षाओं को साँस लेने की फुरसत दो
मत करो आपाधापी
मत करो भय प्रतिस्पर्धा का।

चारों ओर नजरें दौड़ाओ तो
सभी ओर तुम्हें सन्नाटा ही
नजर आयेगा।

तुम्हारी प्रतिस्पर्धा में
और कोई नहीं
केवल तुम्हीं खड़े हो।

तनिक सुस्ता लो
तनिक बातें कर लो अपने-आप से,
ज़रा गति सामान्य तो हो जाने दो,
इस जीवन चक्र की

सोच भी लो क्षण भर
क्या था तुम्हारा नांदी पाठ
और क्या होगा भरत वाक्य
तुम्हारे इस जीवन नाटक का
बस इसीलिये तनिक
विश्राम करो।

ये मध्यांतर की बेला है.....।

भरत-वाक्य

भरत वाक्य की बेला तक आते आते
न जाने कहाँ गुम हो जाते हैं सारे पात्र।
कब तक बुलाये और कब तक थामें
सूत्रधार उन्हें।

कब तक रटवाये उन्हें
भरत वाक्य।
हैरत तो ये भी है कि इस आपाधापी में
वह आलेख भी कहीं गुम हो जाता है,
जिस पर खेला गया यह नाटक।

शब्द तितर-बितर हो जाते हैं,
अर्थ का अनर्थ हो जाता है,
सारे पात्र बिखर जाते हैं।

इधर-उधर मनमानी करते हुए
अभिनय और वाक्यों पर
तालियाँ तो बजती हैं, वाहवाही तो मिलती है
पर वहाँ नहीं जहाँ चाही गई थी।

हास्य उपजा तो हैं पर वहाँ
जहाँ निर्दिष्ट थी करुणा।
और जहाँ हास्य डाला गया था
वहाँ तो मायूसी ही छाई रही।

फिर भी खेल खेला गया
पूरे मनोयोग के साथ
तब फिर भरत वाक्य से क्यों परहेज?
हो जाने दीजिये भरत वाक्य
जिससे और कुछ नहीं तो कम से कम
पटाक्षेप हो जाये इस नाटक का।

अनवरत

नाटक ख़त्म कहाँ होता है
परदा गिरने के बाद
वह जारी रहता है अनवरत
कई प्रश्नों के साथ।

सुखांत हो या दुखांत
हास्य हो या गंभीर,
करता मजबूर सोचने पर
हो चर्चित या अल्पख्यात।

किसी न किसी जीवन में
संदर्भ में या सूचना में
छिपा रहता तहों में
खुलने परतों में अकस्मात्।

खत्म होते ही एक जगह
शुरू हो जाता दूसरी जगह
होने लगता फिर नांदी पाठ
भरत वाक्य के साथ।

रंगमंच पर जीवन के
अनवरत है रचना प्रक्रिया
इन्हीं बातों से बनता नाटक
इसी नाटक से बनती बात।

●

अमृत लाल वेगड़

प्रसंगवश

ठुमरी गायिका सविता देवी को तानसेन सम्मान

वह गुज़रे ज़माने की एक शाम थी। सारंगी की धुन थी और तबले की तान; और बेशक साथ में गूंजती हुई आवाज़ थी सविदा देवी की। यह पूरब अंग की ठुमरी से सजी हुई शाम थी। बनारस की ठुमरी, कजरी और झूला के अलग-अलग रूप और अनगिनत रंग थे। इन सबको सविता देवी ने कुछ यूँ संजोया था, मानों फूलों का कोई सजा हुआ गुलदस्ता हो। श्रोता थे कि और गाने की मांग किए जा रहे थे। आखिर वह कौन सी चीज़ थी, जो उस युग और संगीत को इतना मोहक, इतना मर्मस्पर्शी बनाती थी? वह जो आज किसी गुज़रे ज़माने की बात हुई जाती है? ''वह शब्दों व संगीत का सौंदर्य और उसका रूमानी जादू था। उसी ने तो ठुमरी को संगीत का अनिवार्य हिस्सा बना दिया था.'' यह कहना है सविता देवी का, जिन्होंने अभी-अभी अपने जीवन के सुनहरे सत्तर बरस पूरे किए हैं।

परंपरा से समझौता नहीं

ठुमरी की रानी सिद्धेश्वरी देवी की बेटी होने के कारण उनके पास एक समूची समृद्ध विरासत है। इस विरासत को उन्होंने अपने गायन, संगीत सृजन और विद्यार्थियों को सिखाने के माध्यम से जीवित रखा है। वे कहती हैं, ''माँ का दिया हुआ तो एक भंडार है। मैंने जो विरासत पाई है, पता नहीं उसके साथ कितना न्याय कर पाऊंगी। हमारी ज़िंदगी तो सीखने की एक लंबी अनंत प्रक्रिया है.''

सविता उन कुछ दुर्लभ गुरुओं में से एक हैं, जिन्हें यह मानने में कतई संकोच नहीं होता कि संगीत में वे जो भी सुनती हैं या जिस किसी को भी सुनाती हैं, उसे समझने और अपने संगीत में शामिल करने की कोशिश करती हैं। लेकिन उनकी अपनी ज़िंदगी का सफ़र बहुत सीधा और आसान नहीं रहा है। बहुत कम उम्र में तबला वादक पंडित किशन महाराज के साथ उनका विवाह हो गया था और बाद में वे दोनों अलग हो गए। दो बेटों की देखभाल और पालन-पोषण की ज़िम्मेदारी उन पर आन पड़ी। उन्होंने दिल्ली यूनिवर्सिटी में नौकरी कर ली और फिर 40 साल तक वहाँ अध्यापन कार्य किया। लेकिन नियति को तो कुछ और ही मंज़ूर था। उनके बड़े बेटे की बहुत कम उम्र में ही एक दुर्घटना में मौत हो गई। अब वे अपने छोटे बेटे के साथ रहती हैं। वे पढ़ाती हैं और भारत व विदेशों में संगीत की प्रस्तुतियाँ देती रहती हैं। वे कहती हैं, ''इतने सारे उतार-चढ़ावों और संघर्षों के बीच एक संगीत ही है, जो मुझे सुकून देता है जिससे मुझे ज़िंदगी में आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा मिलती है।''

वे ख्याल गायकी में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने अपने गुरु पंडित मनि प्रसाद और पंडित दलीप चंद्र वैद के किराना घराना की ख़्याल गायकी की शैली अपनाई है। अगर उनसे अर्द्ध क्लासिकल ठुमरी शैली के धीरे-धीरे मिटते चले जाने के बारे में बात की जाए तो वे नाराज़ हो जाती हैं। वे कहती हैं कि अब वक़्त आ गया है कि हम ठुमरी के साथ अर्द्ध क्लासिकल और कुछ कम या ज़्यादा क्लासिकल जैसे विशेषण चस्पां करना बंद कर दें। ठुमरी में क्लासिकल, शास्त्रीय संगीत के सभी रंग, सभी तत्व मौजूद हैं। लेकिन यह बहुत दुख की बात है कि संगीत की इस विधा को लोगों का ज़्यादा प्यार और ध्यानाकर्षण नहीं मिल रहा है। आजकल लोग भजन के साथ अपने संगीत कार्यक्रमों का समापन करते हैं, दरअसल जो ठुमरी के साथ खत्म होना चाहिए। जहां तक ठुमरी का सवाल है तो उसमें गुरु-शिष्य परंपरा का भी अंत होता जा रहा है। बहुत कम गायक ऐसे हैं, जिन्होंने अपने उम्दा शिष्य तैयार किए हैं, उन्हें संगीत में पारंगत किया है। अधिकांश लोग नई पीढ़ी का निर्माण करने में असफल रहे हैं। आज ज्यादा लोग ऐसे नहीं हैं जो ख़ास तौर से ठुमरी सिखाते हैं और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में भी ठुमरी पर कुछ ख़ास ज़ोर नहीं दिया जाता।

आज बहुत से गुरू ख़ुद अपनी धनी परंपरा से विरत होते जा रहे हैं और यही कारण है कि सविता देवी ने विद्यार्थियों को विशेष रूप से ठुमरी की शिक्षा देने और इस विधा में पारंगत करने के लिए सिद्धेश्वरी एकेडमी ऑफ म्युजिक की स्थापना की है। आप उनसे ठुमरी को आधुनिक बनाने के लिए कहिए और वे तुरंत पलटवार करेंगी, ''जो सदियों की परंपरा से चला आ रहा है, उसे आप आधुनिक कैसे बना सकते हैं? मैं इन गीतों को पश्चिम की तर्ज़ पर नहीं ढाल सकती और न ही मैं अपने संगीत में गिटार को शामिल कर सकती। बेशक मैंने शहनाई वादक उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के साथ जुगलबंदी की है। मैं सितार के साथ भी जुगलबंदी करने के लिए तैयार हूं, लेकिन फ्यूजन या मिश्रित संगीत तो बिल्कुल नहीं। मैं अपनी परंपरा से विलग नहीं होना चाहती। मुझे पुरातन, रूढ़िवादी या पुराने ज़माने का कह सकते हैं। मुझे बिल्कुल बुरा नहीं लगेगा। लेकिन मैं समझौता नहीं कर सकती।''

अपनी माँ को याद करते हुए सविता देवी कहती हैं कि वे लीजेंड थीं। लेकिन जो चीज उन्हें थोड़ा विचलित और परेशान करती है। वह तब जबकि मां से उनकी तुलना की जाती है। ''माँ, माँ थीं। हम उनकी बराबरी नहीं कर सकते।'' सत्तर साल की उम्र में वे महसूस करती हैं कि संगीत की दुनिया में शोहरत हासिल करने के लिए उन्हें बहुत संघर्ष करना पड़ा है। ''मुझे लगता है कि आज मैं जो भी हूं, अपने बूते पर हूं। संगीत की दुनिया में मेरा कोई गॉडफादर भी नहीं था, जो मुफ़ीद जगहों पर मेरे लिए सिफ़ारिश करता। मेरे पास तो सिर्फ मेरे कान्हा थे...।

-एस. सहाय रंजीत (इंडिया टुडे)

यूँ ही उलझती रही हैं ज़ुल्म से खलक

अरुण पाण्डेय

मनुष्य समाजवाद का सपना तब से देखता आ रहा है जब से उसे समाज में असमानता या विषमता का बोध होने लगा हालांकि उस समय वह समाजवाद शब्द से परिचित नहीं था, विषमता को भी समझता नहीं था। इतना ज़रूर था कि वह सोचने लगा था कि अभी कल तक जो लोग एक जैसे थे अब उनमें से कोई राजा और शेष प्रजा कैसे बन गये, कुछ लोग धनी और शेष लोग ग़रीब कैसे हो गये? आधुनिक युग में मनुष्य केवल स्वप्नजीवी नहीं रहा बल्कि अपने सपनों को हक़ीक़त बनाने के लिए संगठित लड़ाई लड़ने लगा। स्वप्न को यथार्थ बनाने के लिए आगे बढ़ा समाजवाद के विरोधी मनुष्य के स्वप्न को ही मारने की कोशिश करते रहे हैं। सपना मनुष्य को जगाता है। उद्वेलित करता है, बेचैन कर देता है।

समाजवाद की इन्हीं मूल धारणाओं पर आधारित है रवीन्द्र भारती के नये नाटक 'अगिन तिरिया' का कथ्य जिसे पौराणिक और काल्पनिक ताने बाने में बुना गया है पर मूल में बहुत गहरे तक पैठा हुआ है समाजवाद। रवीन्द्र भारती ने समाज के एक जीवन प्रसंग को अपनी नाटकीय दृष्टि प्रदान की है। अद्‌भुत और अनूठा रचने की ललक के चलते नाटक में प्रयुक्त नाट्य तत्व कहीं कहीं क्लिष्ट से हो गये हैं और पात्रों के रिश्ते उतनी सफाई से स्पष्ट नहीं हो पाते।

पुरोहितों का वर्ग जिनके पास आग है वो न केवल उसकी रक्षा करते हैं वरन अन्य वर्गों के लोगों को चाहे वह कुलांगार हों या जनजातीय जन उन्हें उससे वंचित भी रखते हैं। पुरोहितों का तर्क है कि जब पृथ्वी अपने स्वरूप में आयी तो अंधेरा ही अंधेरा था। ऐसे में हमारे ऋषि पुरखों ने तपस्या की। उनमें से कइयों ने अपने प्राणों की आहुति दी। युगों की साधना के उपरांत माँ अगिन अवतरित हुई आलोकित हो गया पुरखों का मुख मण्डल। पुरखों ने अपने युवा ऋषियों को अग्नि को समर्पित किया और युवा ऋषियों ने अपने युवा ऋषियों को इस तरह युगों को लांघ कर माँ अग्नि हम तक पहुंची हैं। हम उसकी तेज को उसी परम्परा के अनुसार जला कर रखे हैं और समय-समय पर माँ अग्नि का आह्वान कर उसकी यही ज्योति पुरखों द्वारा प्रदत्त माँ अग्नि की ज्योति में इस तरह मिला देते हैं जैसे आकाश अपने अपने रंग को समुद्र में मिला देता है। यह क्रम अनवरत चलता आ रहा है। माँ अग्नि ने हमें ताप दिया आलोक दिया। शक्ति दी दृष्टि दी पथ दिया साहस दिया और दिया सम्भावनाओं से भरा जीवन। पृथ्वी पर वास करने वाले प्राणियों में हम ही हैं श्रेष्ठ जन। जिस माँ ने हमें इतनी श्रेष्ठता प्रदान की हो हम उसे म्लेच्छ हाथों में कैसे जाने दें। पुरोहित वर्ग का तर्क यह भी है कि यदि माँ अग्नि सार्वजनिक हो गई तो धर्म का क्या होगा? हमारी सत्ता का क्या होगा? हमसे कौन, खायेगा भय? हम कायर कहलायेंगे सो अलग। इन दो विपरीत वैचारिक छोरों के बीच में अगिन तिरिया नाटक का ताना बाना है। और बीच में वन देवी, अप्सरा, कुलांगार जैसे चरित्र भी हैं जो दोनों छोरों पर स्थापित जनों से मित्रवत व शत्रुवत व्यवहार करते रहते हैं।

परख

कृति : **अगिनि तिरिया (नाटक)**

लेखक : **रवीन्द्र भारती**

मूल्य : **200 रुपए**

प्रकाशक : **राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली**

तीन अंक और बीस दृश्यों में भारती ने 'अगिन तिरिया' को एक नाटक के रूप में ढाला है किन्तु रवीन्द्र भारती के पूर्ववर्ती नाटकों कम्पनी उस्ताद, फुकन का सुथन्ना और जनवासा नाटकों के पाठकों दर्शकों और प्रयोक्ताओं के लिए अगिन तिरिया एक चुनौती बन कर प्रस्तुत होती है। भाषा के स्तर पर, कथावस्तु के स्तर पर प्रतीकों और बिम्बों के स्तर पर तो यह चुनौती है ही सबसे बड़ी चुनौती है शाश्वत अदिम संघर्ष की सर्वथा नवीन व्याख्या की। वंचितों की दुनिया जिनके हिस्से में किसी भी तरह की रोशनी नहीं है। इन्हें आदिवासी, जनजातीय या निम्न वर्ग के लोगों के रूप में पहचाना जा सकता है।

सवाल सिर्फ उजालों और उसके स्रोत आग का नहीं है। यह उजाला और आग जीवन की वह छोटी से छोटी ज़रूरत की वस्तु और एहसास हो सकता हैं जो जीवन के लिए अपरिहार्य है यहां जीवन वर्गों में विभाजित नहीं है जीवन अर्थात् जीवन जिसमें भूख भी है, सुख भी हैं, और सपने भी हैं। और इन सबकी पूर्ति सहज रूप से सबको समान रूप से हो सके ऐसी व्यवस्था की दरकार ही तो सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जाति ने की थी।

'अगिन तिरिया' में लोक और लोक तत्वों की उपस्थिति दर्ज करके जहाँ रवीन्द्र भारती अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं वहीं उनके द्वारा रचित मिथकीय चरित्रों से जैसे गंधर्व कन्या और वन देवी की उपस्थिति और उनके वार्तालापों में प्रयुक्त उद्धरणों से यथार्थ के साथ जुड़ाव कथ्य को सर्वथा नये भाव लोक में ले जाता है। नाटक में कुछ जनजातीय कर्मकाण्डों को भी समावेशित किया गया है। जैसे गाय घेरने और बाघ मारने का प्रसंग। नाटक की भाषा अवधी हैं और जगह-जगह ठेठ अवधी शब्दों की उपस्थिति से अलंकृत भी है। रवीन्द्र भारती ने अपने कल्पना के जरिए एक सर्वथा नई दुनिया की सृष्टि की है जिसके पात्रों के नाम भी सर्वथा नये नवेले हैं।

नाटक में कुछ पात्र तो अपने कार्य के अनुरूप सम्बोधित किए गए हैं। किन्तु कुछ जनजातीय पात्रों के नाम अजीब हैं मात्या, सुआ, बेली, चेची, साखा होंम, अनंग, तामू कुछ ऐसे ही नाम हैं। पुरोहितों के समूह के सत्य मुख, अरण्य, सुभंग अवश्य जाने पहचाने से नाम हैं और नाम के अनुरूप श्रेष्ठी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुलांगारों को उनके आचरण से ही सम्बोधित किया गया। 'अगिन तिरिया' नाटक के अन्य तत्वों जैसे मंच, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा, रूपसज्जा और नृत्य, गीत की अनन्त संभावनाओं से परिपूर्ण हैं। यथार्थवादी दृश्यों के साथ ही साथ सभी वर्गों के कर्मकाण्डों के लिए अलग-अलग स्थान है और उन्हें उचित संगीत और नृत्य से चाक्षुष बनाया जा सकता है।

एक कठिन समय में जब बाज़ारवादी संस्कृति जन-जन के मन से संघर्ष के भाव को लोप कराने पर तुली हैं और दृश्य माध्यमों के ज़रिये उसे यथार्थ से काट कर स्वप्नलोक में पहुंचाने के लिए प्रण प्राण से जुटी हुई है। ऐसे में रवीन्द्र भारती ने 'अगिन तिरिया' के माध्यम से एक बार मातृ शक्ति को न केवल स्थापित किया हैं वरन नाटक के माध्यम से एक बड़ा वैचारिक सन्देश देने का काम किया है।

रपट : **मुंबई में महिला लोक कला सम्मेलन** • वसुधा सहस्त्रबुद्धे

अछूते कोनों की पड़ताल

पु.ल. देशपांडे महाराष्ट्र कला अकादमी, पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र उदयपुर, लोककला अकादमी, मुंबई विद्यापीठ के सहयोग से लोकरंग सांस्कृतिक मंच ठाणे, द्वारा आयोजित भारतीय महिला लोककला सम्मेलन दिनाँक 9-10 अक्टूबर 2011 को रवीन्द्र नाट्यमंदिर प्रभादेवी, मुंबई में सम्पन्न हुआ। विविध लोककलाओं की प्रस्तुति के साथ-साथ, विविध विषयों पर परिचर्चा भी हुई। जैसे आदिवासी महिला जीवन, पर्यावरण और कला, महाराष्ट्र के सांस्कृतिक विकास में संत कवयित्रियों का योगदान, स्त्री होने के कारण महिला कलाकारों की वेदना, अभिजात कला और संस्कृति द्वारा लोककलाकारों की उपेक्षा हुई है? इस तरह इस सम्मेलन में विचार मंथन और मनोरंजन का अनूठा मेल रचा गया।

सम्मेलन की उद्घाटक थी स्वरसाम्राज्ञी लता मंगेशकर पुरस्कार से सम्मानित प्रख्यात लावणी गायिका सुलोचना चव्हाण। भाषण करने के बजाय उन्होंने सम्मेलन को आशीर्वाद दिया और अपनी प्रसिद्ध लावनी 'तुझ्या उसाला लांगल कोल्हा' (तुम्हारे गले को सियार उड़ा ले जायेगा) पेश की। उसके बाद चन्दाबाई निवाड़ी के 'ऊँ नमो नमो ऊँ कार स्वरूपा' इस गणेश वंदना का तालबद्ध गायन हुआ। बाद में छत्तीसगढ़ की पद्मभूषण तीजनबाई का पंडवानी गायन सुनते हुए दर्शक भावविभोर हो गए। उनकी लोकमहाभारत की द्रोपदी चीर-हरण कथा की प्रस्तुति में नृत्य, नाट्य काव्य, अभिनय एकाकार हो गया था। पूरे प्रसंग का शब्दचित्र उन्होंने अपनी पहाड़ी आवाज़ में दर्शकों के सामने साकार किया। द्रोपदी की कृष्ण के लिए करुण पुकार का वर्णन करते हुए खेद के साथ उन्होंने कहा कि आज भी समाज में कौरव ही कौरव हैं, कृष्ण कहाँ हैं? लेकिन उसे पुकारो तब वह आता है। उनके उच्चारण, विराम और देहबोली से द्रोपदी की टीस इतनी सहज व्यक्त हुई मानो जिंदगी और प्रस्तुति में कोई अंतर ही नहीं।

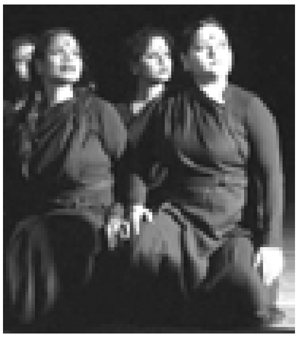

इसके बाद डॉ. ताराबाई भवाळकर का बीज भाषण हुआ। उन्होंने कहा- लोककला पूर्णतः नाट्य है, जिसमें भक्ति, अध्यात्म और जिंदगी की हकीकत समाहित है। नृत्य, नाट्य, गीत, वादन का एकत्रित अनुभव हमें ऊर्जा प्रदान करता है। भरत कहते हैं कि ऋषि, मुनी, दुखी, कष्ट करने वाले लोगों के मनोरंजन के लिए नाट्यकला होती है। परन्तु लोककला में श्रम और विश्राम दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। जैसे जाँत पर आटा पीसने वाली स्त्री एक ओर गाती है और साथ-साथ पीसने का काम करती है। कहते हैं लोककलाकार का गीत और गायन पेट से निकल कर होठों पर आ जाता है। सुनार, बुनकर, कुम्हार यह सभी कलाएँ जीने का आधार हैं। यह उपयोजित कलाएँ परंपरा से आई हुई अर्थात् विरासत में मिलती हैं। हमारी अचेत स्मृति में अनेक परंपराएँ होती हैं। जिंदगी के अनुभव उसके साथ जुड़ जाते हैं और विविध कथा और कलाओं द्वारा उसे अभिव्यक्ति मिलती है।

तीजनबाई की कथा से जुड़ी हुई महाराष्ट्र की एक परंपरा उन्होंने बताई। दीपावली के अवसर पर कौरव पांडवों में द्युत खेला गया, जिसमें पांडव पूरी तरह हार गए। गांव की औरतें दीपावली में गोबर से पांडव के पुतले बनाकर उनकी पूजन करती हैं। दूसरे दिन धूप में सुखाने के लिए छप्पर पर फेंक देती हैं और सूखने पर जला देती हैं। एक तरह से पुरुषों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया जाता है। इस परंपरा का वर्णन डॉ. ताराबाई ने जिस अंदाज़ में किया वह सूचक और काबिले तारीफ़ था। पांडवों की अवस्था ऐसी ही हो गयी थी। अंत में धृतराष्ट्र ने द्रोपदी को तीन वर मांगने के लिए कहा। द्रोपदी स्वाभिमानी थी। पहले वर में उसने अपने पांचों पतियों को मुक्त करने के लिए कहा और दूसरे वर में उनके हाथ में शस्त्र देने के लिए कहा। तीसरा वर नहीं मांगा, उसने सोचा अगर मेरे पतियों में हिम्मत है तो वे मुझे मुक्त करेंगे।

आटा पीसते हुए अथवा कोई कष्ट करते समय औरतें 'ओवी' छंद में काव्य रचती थी। यह दो पंक्तियों का उस्फूर्त अथवा परंपरा से आया हुआ काव्य होता है। एक स्त्री 'ओवी' में कहती है- ''पाँच पनीची मीनार भी रंडकी वाणी। श्री हरीवाचून मज नाही कोणी'' (मैं पांच पतियों की पत्नी होते हुए भी रांड के समान हूँ। मुझे तो श्रीहरि के बिना कोई नहीं है।) इस तरह स्त्री का जीना और गाना एकाकार हो जाता है। हमारी संस्कृति में पांच आदर्श स्त्रियों के नाम हैं- अहिल्या, द्रोपदी, सीता, तारा और मंदोदरी। गौर करने पर पता चलेगा इन पर जो संकट आए पुरुषों के कारण ही आए, लेकिन संकटों का मुकाबला इन्होंने स्वयं किया है।

'ओवी' काम की गति के अनुसार सुर-ताल पकड़ती है। जाँत पर हल्दी पीसते हुए बहुत कष्ट होते हैं। फिर गति मंद हो जाती है, परन्तु आटा पीसते समय अथवा कुछ दूसरा हाथ धान पीसते समय गति तेज होती है फिर 'ओवी' का ताल भी बदलता है। बच्चे को झूले में झुलाते हुए, गोदी में सुलाते हुए, खेत में काम करते हुए, कूटते काटते हर वक़्त गाना चलता है। कष्ट कम करने के लिए, दुख भूलने के लिए गाना हमेशा साथ देता है। वैसे स्त्री का जीना कभी भी सुंदर नहीं था, वह हमेशा विपरीत का सामना करती रही। परन्तु दुख को सुख में बदलने का हुनर उसमें है। हमेशा हँसकर, अपनी ज़िंदगी को स्वीकार करते हुए स्त्री हमेशा उसे बेहतर बनाने का प्रयास करती रहती है। लेकिन उसके साथ-साथ भगवान से प्रार्थना करती है- ''देवा नारायण माझी विनती फार फार। बाईचा जन्म नको वारंवार।। (भगवान से विनती करती है कि बार-बार स्त्री का जन्म नहीं चाहिए।) फिर भी यह विश्वास देते हुए तारा बाई ने कहा- जब जीना मुश्किल हो जाता है, तब परंपरा और लोककला हमें नयी ऊर्जा, प्रेरणा और आनंद देती है।

रंगकर्मी सुषमा देशपांडे ने 'तमाशा' और 'लावणी' का विशेष अध्ययन किया है। इन कलाकारों के जीवन का बहुत नजदीक से अनुभव लिया है। 'तिच्या आठवणींचा फड' (उसके यादों की महफिल) यह एक पात्र प्रयोग इन कलाकारों के जीवन पर आधारित है। इसका लेखन, निर्देशन और अभिनय स्वयं सुषमाजी करती हैं। उनको लगता है इन कलाकारों की ज़िंदगी दयनीय नहीं है क्योंकि मुरली अथवा देवदासी बनना उनका चुनाव नहीं है। यह निर्णय माँ-बाप लेते हैं और जिंदगी शुरु हो जाती है। मराठी में खुले आम बोलते हैं- मुरली देवाची आदि बायको गावाची (मुरली भगवान की अर्थात् भगवान के प्रति समर्पित और पत्नी गाव के हर पुरुष की)। इन औरतों की दुनिया अलग होती है। वह जानती है- पुरुष के साथ किस तरह पेश आना चाहिए, पैसे किस तरह निकाल

सकते हैं इत्यादि। यमुनाबाई नाम की एक अदाकार के बारे में बताते हुए उन्होंने कहा, किसी परदेसी फोटोग्राफर को उनकी तस्वीर निकालनी थी। वैसे अब उसकी उम्र हो गयी है, इसलिए वह तैयार नहीं थी। आखिर तैयार हो गयी। सज-धज के बैठ गयी और पूछा किसकी ओर देखना है और ऐसा 'लूक' दिया कि सुषमाजी दंग रह गयीं। वेशभूषा के बाद जैसे यमुनाबाई के अंदर सुस्त पड़ा कलाकार चुस्त हो गया।

संत साहित्य के गहरे अभ्यासक डॉ. सदानंद मोरे ने संत कवयित्रियों के योगदान के बारे में चर्चा की। बताया कि संत ज्ञानेश्वर की छोटी बहन संत मुकनाबाई ने तेरहवीं शती में संत शब्द की व्याख्या की। लोगों के विरोध से परेशान होकर संत ज्ञानेश्वर ने अपने आपको कुटिया में बंद कर दिया। तब उनको समझाते हुए ताडी (दरवाजा) खोलने के लिए मुक्ताई ने जो अभंग रचे उनको 'ताटी के अभंग' कहते हैं। संस्कृति की निर्मिति में साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण होता है। वारकरी संप्रदाय की साहित्यनिर्मिति में अनेक संत महिलाओं का योगदान है। अभंगों की रचना भगवान के साथ संवाद का माध्यम था। पांडुरंग उनके परिवार का सदस्य बन गया था। इसलिए उसे कभी मित्र की तरह प्रेम, नहीं तो गालियाँ भी मिलीं। संस्कृत के पंडित अश्वघोष की 'वज्रसूचिकोपनिषद' इस कृति का अनुवाद संत बहिणाबाई ने किया था। स्वयं ब्राह्मण होने के बावजूद ब्राहण किसे कह सकते हैं- इसकी व्याख्या उसने की थी तथा आत्मचरित्र (जीवनी) पर अभंग लिखे। महिला संतों ने 'भारुड' रचे। उसके लिए विविध लोक खेल द्वारा रूपक रचे। जैसे हुतूतू (कबड्डी), हमामा, आट्या-पाट्या, पिंगा, फुगडी, झिम्मा, वासुदेव इत्यादि।

पांडुरंग के दर्शन की, उसके चरणों में अपने आपको समर्पित करने की अभिलाषा इतनी है कि उनको घर-परिवार, पति, बच्चे किसी का मोह नहीं है। अपने आप को स्वैरीणी, वेश्या भी कहती हैं, क्योंकि भगवान को ही अपना पति माना है, फिर उसे मिलने के लिए जाने में शर्म कैसी? पूरे साल भर उस एक दिन के इन्तजार में स्त्री चुपचाप अपने परिवार के लिए कष्ट करती रहती है। इस तरह की चर्चा के बाद गडचिरोली जिले के येरापल्ली विभाग की महिलाओं का माडिया नृत्य, कल्पना माकी का पवाड़ा, दीपाली शिंवे की आंबेडकरी शाहिरी, डॉ. शैलेष श्रीवास्तव द्वारा प्रस्तुत भोजपुरी संगीत, केरल, पंजाब और राजस्थान के लोकनृत्य, अंजली नाशिककर द्वारा प्रस्तुत गज, गवळण और वतावणी, शिवकन्या बढ़े का ढोलकी वादन, मानसी बडवे का कीर्तन, छाया-माया की लावणी और दीपाली विचारे, याकूब सईद, अशोक वायंगणकर आदि निर्देशकों के मार्गदर्शन में प्रस्तुत रूपेरी लोककला नयनरम्य थी। पूरे आयोजन के सूत्रधार थे डॉ. प्रकाश खांडके और संजय भुस्कुटे।

इस तरह के आयोजन विविध लोककलाओं का परिचय कराते हैं। अभिजात संगीत और कला का रिश्ता लोककला से जुड़ा हुआ है। मूल स्रोत भी कह सकते हैं, क्योंकि संगीत सात स्वरों में बसा हुआ है। इसलिए जरूरी है ऐसे आयोजन, जो यह रिश्ता गहरा और रस-रंग की प्यार भरी बरसात में दर्शकों को भिगो दे।

'नाटक' एक ऐसी विधा है जो अपना अलग अस्तित्व रखती है। जहाँ अन्य साहित्यिक विधाओं की यात्रा मुद्रित होने, पढ़े जाने या सुने जाने पर समाप्त होती है, वहीं नाटक की यात्रा इसके कुछ आगे बढ़ते हुए दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व के साथ जब वह मंचित हो जाता है तब ही पूर्ण हो जाती है। दरअसल मंच पर प्रदर्शित करने के उद्देश्य ही नाटककार नाटक की रचना करता है। इस प्रकार नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो रंगकर्मियों की कला के माध्यम से अमूर्त से मूर्त बन जाती है। अब ऐसी स्थिति में जब नाटक के अध्यापन की बात आती है तो प्रश्न उठता है कि उसे किस रूप में पढ़ाया जाए? साहित्यिक विधा के रूप में या प्रदर्शनकारी विधा के रूप में? कुछ लोगों का यह कहना हो सकता है कि जब विश्वविद्यालयों में या कॉलेजों में हम नाटक पढ़ाते हैं तो उसे एक साहित्यिक विधा के रूप में पढ़ाते हैं, इसलिए हमें केवल उसकी साहित्यिक विशेषताओं पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए। परन्तु, क्या इस तरह सोचना एकांगी नहीं होगा? जब हम यह स्वीकार करते हैं कि नाटक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसके साथ दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व जुड़ा रहता है तब उसके अध्ययन के अंतर्गत नाटक के इस रूप की उपेक्षा करना क्या सही होगा?

चुनौती
नाटक का अध्यापन

यही सही है कि जब कोई भी अच्छा नाटककार नाटक लिखता है तब वह नाट्य-प्रसंगों को विजुअलायज़ करते हुए नाटक लिखता है। परन्तु, वही नाटक जब निर्देशन-प्रक्रिया से गुजरते हुए मंच पर प्रस्तुत होने लगता है तब उसका एकदम नया रूप दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। हर पाठक रचनाकार द्वारा प्रस्तुत ब्यौरों के आधार पर अपनी बुद्धि, कलात्मक, संस्कारों तथा कल्पना-शक्ति के अनुसार नाटक के पात्रों और घटनाओं के मानसिक चित्र बनाता है। परन्तु उसी नाटक को जब वह मंचित रूप में उन्हीं मानसिक चित्रों को सजीव होते हुए, गतिशील कार्यव्यापार के रूप में देखता है। पढ़ते हुए जिन पहलुओं को वह उतनी तीव्रता से महसूस नहीं कर पाता, उन्हें वह मंचित नाटक में महसूस कर पाता है, बशर्ते नाटक का प्रस्तुतिकरण अच्छा हो।

अगर कोई मंडली आपके लिए पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक का मंचन करने को तैयार है तो वह बहुत ही अच्छा, नहीं तो किसी रंगकर्मी को नाट्य पाठ के लिए आमंत्रित किया जा सकता है। जहाँ रंगमंच की शिक्षा पाठ्यक्रम में होती है, वहाँ के विद्यार्थी तो प्रस्तुतिकरण से जुड़े हुए होते ही हैं। परन्तु, जहाँ 'रंगमंच' पाठ्यक्रम का विषय नहीं होता वहाँ के विद्यार्थियों को भी संभव हो तो पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक के प्रस्तुतिकरण में गर इनवॉल्व कर दिया जाए तो विद्यार्थी उस नाटक के रंगमंचीय पहलुओं को भी अच्छी तरह समझ सकेंगे। नाटक को मंचित कर विद्यार्थियों को दिखाने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती हैं। ऐसे में अगर अध्यापक और कुछ नहीं तो कम से कम किसी अच्छे कलाकार से नाटक के संवाद रिकार्ड करके उन्हें क्लास में बच्चों को सुना सकता है। हो सकता है कि ऊपर दिए गए सुझावों पर अमल कर पाना हर किसी के लिए संभव न हो। परन्तु, यह भी सही है कि पाठ्यक्रम को पूर्ण करने के उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अगर हम किसी कहानी या उपन्यास की तरह की नाटक को पढ़ाते जाएंगे तो हम उस नाटक के अध्ययन के साथ न्याय नहीं कर पाएंगे।

अभिमत

दरअसल रंगमंचीय पक्षों का ख्याल रखते हुए नाटक का अध्यापन करने से रंगमंच के प्रति विद्यार्थियों की उत्सुकता को भी बढ़ाया जा सकता है। जहाँ पहले ही स्तरीय रंगमंच के अस्तित्व को लेकर काफी चिंताएं जताई जा रही हैं वहाँ अगर विद्यार्थी जीवन में ही रंगमंच के प्रति युवाओं का प्रेम बढ़ने लगे तो रंगकर्मियों को उत्पन्न करने की दृष्टि से न सही, लेकिन कम से कम रंगमंच के दर्शक तैयार करने की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अध्यापक अपना योगदान दे सकते हैं। **-रमिता गुरब**

* सृजन के आसपास *

उमंगों की 'फुहार'

'आईसेक्ट' और 'वनमाली' ने रचा नौनिहालों का जश्न

ये दुनिया है अजब निराली, हर दिन एक त्यौहार है। आओ मिलकर गायें-नाचें, खुशियों की 'फुहार' है। रवीन्द्र भवन के सभागार में बच्चों ने कुछ ऐसी ही मस्ती भरी महफिल का लुत्फ उठाया।

नौनिहालों के लिए चहक-महक भरी यह सौगात संजोई वनमाली सृजन पीठ, आईसेक्ट और स्कोप पब्लिक स्कूल ने। लगभग डेढ़ घण्टे इस सुन्दर ताने-बाने में अपनी प्यार भरी हसरतों, मासूम मुस्कुराहटों और नटखट अदाओं का इन्द्रधनुष लिए सौ से भी ज्यादा बच्चे मंच पर नमूदार हुए। इस मौके पर आईसेक्ट स्टुडियो ने बाल कविताओं की संगीतबद्ध सीडी 'गोलू के मामा आए' जारी की जिसका लोकार्पण वरिष्ठ साहित्यकार पद्मश्री रमेशचन्द्र शाह, कवि राजेश जोशी, शिक्षाविद् गुरुवचन सिंह, सेंट जोसेफ को-एड स्कूल के प्राचार्य फादर जॉनी और आईसेक्ट के महानिदेशक कवि-कथाकार संतोष चौबे की मौजूदगी में बाल गायकों सौम्या श्रीवास्तव, आरोही पारे, सौम्या चतुर्वेदी, नमन चतुर्वेदी और पलाश ने किया। गीत, संगीत, नृत्य और अभिनय की अनूठी हमजोली से तैयार हुए इस मनछूते रूपक का सूत्र-संचालन करने संगीतकार संतोष कौशिक और कला समीक्षक विनय उपाध्याय के साथ बाल उद्घोषक अक्षय द्विवेदी और सौम्या चतुर्वेदी ने भी पूरा आत्मविश्वास

फुहार के मंच पर (बांये से) संतोष चौबे, राजेश जोशी, गुरुवचन सिंह, फादर जॉनी और संतोष कौशिक

मंच पर अपने साथियों के साथ फुहार के सूत्रधार अक्षय द्विवेदी और सौम्या चतुर्वेदी

दिखाया। लगभग सत्र चुनिंदा कविता-गीतों की धुनें सुपरिचित संगीतकार संतोष कौशिक ने तैयार की हैं जबकि नृत्य संयोजन कोरियोग्राफर क्षमा मालवीय ने और निर्देशन रंगकर्मी मनोज ने किया है। प्रस्तुति के कार्यकारी निर्माता प्रशांत सोनी और तकनीकी संयोजन आशीष पोतदार, सौरभ अग्रवाल, वंदना श्रीवास्तव तथा मुकेश सेन ने किया है, 'फुहार' के मंचन में सेंट जोसेफ को-एड स्कूल अरेरा कॉलोनी के छात्र-छात्राओं ने हिस्सेदारी की।

इस अवसर पर अपने उद्‌बोधन में 'फुहार' के मुख्य परिकल्पनाकार संतोष चौबे ने कहा कि आपाधापी से भरे इस नए जमाने में जब बचपन की खुशियों का आंगन सूखता-सिमटता जा रहा है, हमारी कोशिश फिर से लड़कपन की उमंगों का रंग-बिरंगा संसार रचने की है। साहित्यकार रमेशचन्द्र शाह ने कहा कि उन्होंने बाल साहित्य पर आधारित ऐसी रचनात्मक प्रस्तुति अपने जीवन में पहली बार देखी जिसमें बच्चों के कला-कौतुक का दुर्लभ संसार प्रकट हुआ।

कवि राजेश जोशी ने 'फुहार' की पहल को आदिम आनंद के महाभाव का अनूठा रेखांकन बताया। तालियों की गड़गड़ाहट और कौतुहल से भरी मुस्कानों बीच सिलसिला शुरु हुआ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता- ''आओ, एक बनाएं चक्कर'' से। उसके बाद रमेशचन्द्र शाह का गीत ''गोलू के मामा आए'' जैसे ही गूंजा मंच पर चंदा मामा के आसपास बच्चों का हुजूम उमड़ आया। इसी बीच राजेश जोशी की कविता ने टेर लगाई- ''बादल आए, पानी जेबों में भर लाए''। मस्ती की इस पाठशाला में दादाजी नाराज हैं (नवीन सागर), नई साइकिल गोलू लाया (श्याम बहादुर नम्र), छूटी मेरी रेल रे बाबू (सुधीर) और डगमग करते मुन्ने निकले (नवीन सागर) तथा एक कहानी कहनी है (सुशील शुक्ला) ने भी बचपन की सपनीली, सतरंगी छवियों का नजारा पेश किया।

रचना प्रसंग

लोकार्पण : 'निगहबानी में फूल'

''नक्षत्र की तरह आकाश में/टूटना नहीं चाहता/अपनी ही जमीन पर जुड़कर टूटना/और फिर टूटकर जुड़ना चाहता हूँ मैं...''। मिट्टी की सौंधी महक और लोक विश्वासों की आहट लिए ऐसी ही मानवीय कविताओं के संग्रह 'निगहलबानी में फूल' का लोकार्पण हिन्दी के प्रख्यात कवि और कला चिंतक नरेश सक्सेना ने भोपाल स्थित स्वराज भवन में किया। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में समान रूप से सक्रिय वनमाली सृजन पीठ द्वारा आयोजित दो दिवसीय 'रचना प्रसंग' की यह पहली सभा थी।

युवा कवि वसंत सकरगाए की पहली काव्यकृति 'निगहबानी में फूल' पर सुप्रसिद्ध कवि-आलोचक राजेश जोशी ने अपना वक्तव्य दिया जबकि जाने-माने कवि-कथाकार और विज्ञानकर्मी संतोष चौबे ने अध्यक्षीय उद्‌गार व्यक्त करते हुए सकरगाए की कविताओं के सामाजिक सरोकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। इस मौके पर भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा कृति-पुरस्कार के लिए चयनित चर्चित युवा कवि प्रदीप जिलवाने तथा कला-समीक्षक विनय उपाध्याय ने भी वसंत के कवि-कर्म को रेखांकित किया। हाल ही में मुकुट बिहारी सरोज स्मृति सम्मान से विभूषित वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना ने कहा कि सृजनात्मकता, संवेदना और सरोकार जैसे बुनियादी तत्वों को सकरगाए की कविता ने भी सहेजा है। उन्होंने लोकार्पित संग्रह की कविताओं में विशेषकर बच्चों और बुजुर्गों की अंतर्ध्वनियों को चिन्हित करते हुए कहा कि इस संग्रह में काव्य भाषा का सलीका और शब्दों के नए अर्थ पैदा करने की कसौटी से जूझने की कोशिश नजर आती है।

राजेश जोशी ने कहा कि वसंत की कविताओं में विषयों की विविधता का एक बहुरंगी लैंडस्केप है। ये हमारे जीवन के अनेक चिरपरिचित दृश्यों, घटनाओं और अनुभवों में बाकी रह गए या अनकहे की ओर इशारा कर बहुत कुछ नया जोड़ती है। कार्यक्रम के अध्यक्ष संतोष चौबे ने 'निगहबानी में फूल' की रचनाओं को एक युवा कवि के सकारात्मक नजरिए और उत्साह की बानगी बताया। उन्होंने 'बच्चों की ओर' कविता कोड करते हुए कहा- ''तजते हुए सभी भय/मुझे लेनी ही पड़ती है/नई करवट बच्चों की ओर''। चौबे ने कहा कि सकरगाए की कविता आलोचना के नए विमर्श खोलती है। इससे पूर्व संग्रह के रचनाकार वसंत सकरगाए ने अपनी कविताओं की पृष्ठभूमि पर रौशनी डालते हुए कहा कविता मेरे लिए मिट्टी के संस्कारों में बार-बार लौटने और लोक स्मृतियों को सहेजने की सुखद अनुभूति रही है। उन्होंने इस मौके पर 'दस्तक', 'आज जबकि', 'बच्चों की ओर', 'हरसूद में बाल्टियाँ' और 'निगहबानी में फूल' आदि कविताओं का पाठ भी किया। समारोह का संचालन सृजन पीठ के समन्वयक विनय उपाध्याय ने किया।

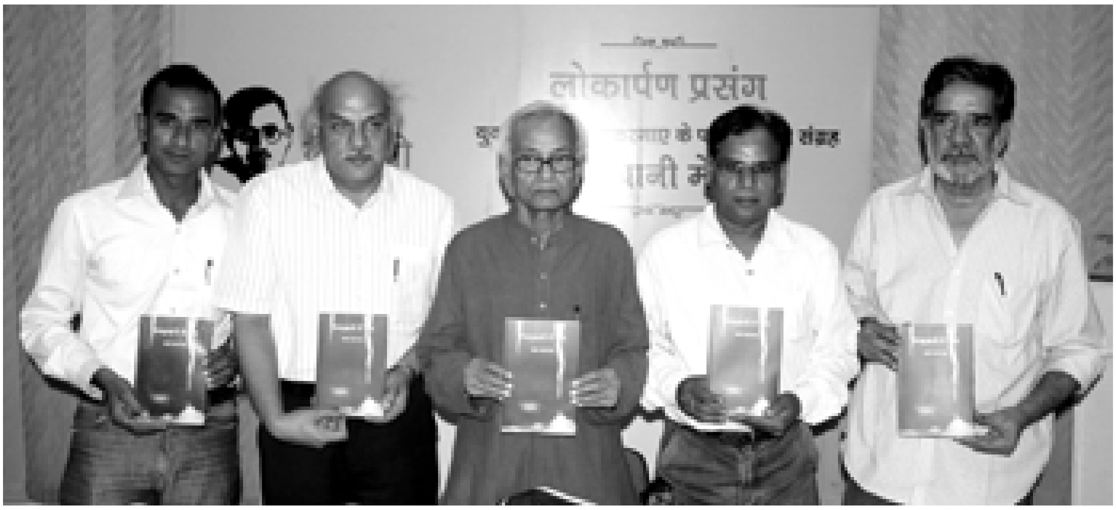

वसंत सकरगाए के पहले कविता संग्रह 'निगहबानी में फूल' का लोकार्पण करते हुए
कवि नरेश सक्सेना, राजेश जोशी, संतोष चौबे और प्रदीप जिलवाने

सक्सेना का आत्मीय काव्य पाठ

'जिसके पास चली गई मेरी जमीन/उसी के पास अब/मेरी बारिश भी चली गई।' जैसे चिड़ियों की उड़ान में/शामिल होते हैं पेड़/क्या मुसीबत में/कविताएं होंगी हमारे साथ।'

मानवीय संवेदनाओं के ऐसे अनूठे आयाम रचती लगभग एक दर्जन रचनाओं के साथ प्रख्यात कवि नरेश सक्सेना भोपाल के काव्य प्रेमियों से रूबरू हुए। वनमाली सृजन पीठ द्वारा आयोजित दो दिवसीय 'रचना प्रसंग' की यह दूसरी और अंतिम कड़ी थी। रचना पाठ के पूर्व नरेशजी के सृजन पक्ष पर वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने अपना प्रभावी

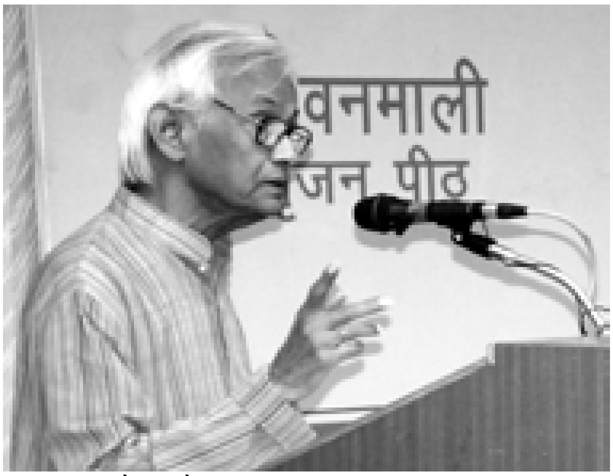

रचना पाठ : नरेश सक्सेना

वक्तव्य दिया। अध्यक्षता कवि-कथाकार संतोष चौबे ने की। सृजन पीठ के समन्वय तथा कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने सक्सेना के रचनात्मक योगदान और उपलब्धियों पर प्रकाश डाला।

राजधानी में साहित्य प्रेमियों के आग्रह पर सक्सेना ने अपने बहुचर्चित कविता संग्रह 'समुद्र पर हो रही बारिश' की कई कविताएँ सुनाई। साहित्य की पाठ परंपरा का श्रेष्ठ नमूना पेश करते हुए सक्सेना ने कविताओं की विषय-वस्तु, उनकी भाव भंगिमाओं और उनमें निहित लय प्रवाह का पूरे संतुलन के साथ निर्वाह किया। काव्य पाठ के पहले चरण में उन्होंने 'इस बारिश में' पढ़ते हुए कहा- जिसके पास चली गई मेरी जमीन/उसी के पास अब/मेरी बारिश भी चली गई'। तो 'शिशु' कविता में उन्होंने फरमाया- 'शिशु लोरी के शब्द नहीं/संगीत समझता है/अभी वो अर्थ समझता है/बाद में सीखेगा भाषा।' साहित्य के प्रतिष्ठित 'पहल सम्मान' और 'सरोज स्मृति सम्मान' से विभूषित इस लब्ध प्रतिष्ठित कवि की कविता 'दाग-धब्बे' की ये पंक्तियों का भी करतल ध्वनि से श्रोताओं ने स्वागत किया।

रचना पाठ से पूर्व वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने सक्सेना के कवि-कर्म पर वक्तव्य देते हुए कहा कि नरेशजी की कविता विज्ञान को जीवन के बिम्ब के साथ गुंफित करती है। वे विज्ञान के तर्क को कविता के तर्क में बदलते हैं। अध्यक्षीय उद्‌बोधन में चौबे ने नरेशजी की कविताओं के कलापक्ष को रेखांकित करते हुए कहा कि उनके जीवन और सोच में समायी गहरी कला संवेदनाएँ ही उनकी कविताओं को नया रूप-रंग और भावनात्मक स्पर्श देती हैं।

माउण्ट आबू में हिन्दी समागम

आईसेक्ट विवि भोपाल एवं सीवी रमन विवि बिलासपुर के कुलाधिपति संतोष चौबे को विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान प्रदान किया गया है। उन्हें यह सम्मान रूपाम्बरा राष्ट्रीय अकादमी कोलकाता द्वारा विज्ञान प्रौद्योगिकी एवं सूचना तकनीक के क्षेत्र में हिन्दी में किए गए कार्यों के लिए 24वें हिन्दी अधिवेशन में दिया गया। इस तीन दिवसीय कार्यक्रम में आईसेक्ट के उपक्रम वनमाली सृजन पीठ द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'रंग-संवाद' को भी राजभाषा शील्ड सम्मान प्रदान किया गया है। कार्यक्रम में आईसेक्ट की ओर से विनय उपाध्याय, मोहन सगोरिया एवं रवीन्द्र जैन ने शिरकत की। विनय उपाध्याय ने 'सूचना प्रौद्योगिकी के विकास में लघु पत्रिकाओं की उपादेयता' पर वक्तव्य दिया। इसी सत्र में मोहन सगोरिया ने 'सूचना प्रौद्योगिकी के विकास में हिन्दी की भूमिका' पर प्रकाश डालते हुए आईसेक्ट के कार्यों को रेखांकित किया तथा रवीन्द्र जैन ने आईसेक्ट द्वारा प्रकाशित संपादित विज्ञान पत्रिका 'इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए' की पच्चीस सालाना यात्रा से अवगत कराया।

● 'रंग-संवाद' को राजभाषा शील्ड सम्मान
● संतोष चौबे को विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान

राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी रूपाम्बरा, कोलकाता द्वारा 24 वें हिन्दी अधिवेशन का माउंट आबू में भव्य आयोजन हुआ। प्रथम सत्र की अध्यक्षता कवि कथाकार स्वदेश भारती ने की तथा इस सत्र के मुख्य अतिथि कड़िया मुण्डा, उपाध्यक्ष लोकसभा थे। उन्होंने विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान संतोष चौबे को प्रदान किया जिनकी अनुपस्थिति में यह सम्मान 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय ने ग्रहण किया। ज्ञात हो कि 'रंग-संवाद' आईसेक्ट के उपक्रम वनमाली सृजन पीठ द्वारा प्रकाशित होने वाली कला पत्रिका है जिसे इसी सत्र में राजभाषा पत्रिका शील्ड सम्मान प्रदान किया गया।

माउंट आबू की सुरम्य वादियों में यह अधिवेशन तीन दिन तक चला। दूसरे दिन 'भारतीय भाषाओं के उन्नयन एवं प्रचार में तकनीकी प्रशिक्षण की अनिवार्यता' विषय पर गोष्ठी हुई। गोष्ठी में राकेश गौतम, अशोक मनवानी, अशोक सिंघई, अनिता लाला, उषादेवी सारस्वत, अजय कुमार सिन्हा, किरण सक्सेना ने भाग लिया। दूसरे सत्र में विनय उपाध्याय ने 'सूचना प्रौद्योगिकी के विकास में लघु पत्रिकाओं की उपादेयता' विषय पर वक्तव्य देते हुये कहा कि सूचना क्रांति के दौर में जब चारों ओर हिन्दी की अस्मिता को नष्ट करने के हमले हो रहे हैं तब लघु पत्रिकाओं का आंचल ही हिन्दी की आबरू को, उसके वजूद को बचाने के लिए विश्वसनीय भूमिका निभा रही है। उन्होंने लघु पत्रिकाओं पर आने वाले संकटों पर भी लक्ष्य किया तथा पत्रिकाओं प्रौद्योगिकी पक्ष पर प्रकाश डाला। इसी अवसर पर आईसेक्ट की ओर से मोहन सगोरिया ने 'सूचना प्रौद्योगिकी का विकास और हिन्दी की भूमिका' विषय पर वक्तव्य दिया। सगोरिया ने आईसेक्ट के कुलाधिपति संतोष चौबे द्वारा हिन्दी में किए गए वैज्ञानिक कार्यों पर भी प्रकाश डाला। इसी सत्र में 'इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए' के सह-संपादक रवीन्द्र जैन ने उक्त पत्रिका के 25 वर्ष के सफर पर प्रकाश डाला।

चतुर्थ सत्र में 'हिन्दी प्रयोग एवं प्रचार-प्रसार में कठिनाइयाँ और निदान' विषय पर विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। शरवेंदु शर्मा की अध्यक्षता में हुए इस कार्यक्रम में राजबीर सिंह फरीदाबाद, एस. के. वर्मा नई दिल्ली, नगेन्द्र मिश्रा नई दिल्ली, के.पी. सिंह नई दिल्ली मिथिलेश कुमार मिश्रा नई दिल्ली, प्रफुल्ल नागर उदयपुर ने भाग लिया। पंचम सत्र स्वमूल्यांकन पर आधारित था जिसमें चुने हुए प्रतिभागियों ने भाग लिया।

छठवें सत्र में डॉ. स्वदेश भारती की अध्यक्षता में काव्य गोष्ठी सम्पन्न हुई। गोष्ठी में एस.एन.सिंह, पी.डी. आहूजा, अशोक मनवानी, अनिता लाला, मोहन सगोरिया, विनय उपाध्याय, किरण सक्सेना, अशोक सिंघई, शंकरलाल पुरोहित, सत्यनारायण व्यास 'मधुप' आदि ने काव्य पाठ किया। इस सत्र का संचालन कवि शरवेन्दु शर्मा ने किया। आठवे सत्र का शुभारंभ 'महात्मा गांधी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का जागतिक स्वरूप' विषय पर अशोक सिंघई के वक्तव्य से हुआ। यह कार्यक्रम का अंतिम सत्र था जिसमें घोषणा हुई कि आईसेक्ट प्रदर्शनी को प्रथम पुरस्कार 'राजभाषा प्रदर्शनी : राष्ट्रीय शील्ड सम्मान' प्रदान किया जाता है। इस पुरस्कार के अतिरिक्त सभी प्रतिभागियों को शॉल, श्रीफल एवं स्मृति चिन्ह प्रदान कर सम्मानित किया।

माउण्ट आबू में लोकसभा उपाध्यक्ष कड़िया मुंडा से 'रंग संवाद' का राजभाषा शील्ड सम्मान ग्रहण करते हुए संपादक विनय उपाध्याय

राजभाषा प्रदर्शनी राष्ट्रीय शील्ड सम्मान ग्रहण करते हुए आईसेक्ट की पत्रिका 'इलेक्ट्रॉनिकी' के संपादकीय सहयोगी रवीन्द्र जैन

राजभाषा सम्मेलन में कविता पाठ करते आईसेक्ट प्रतिनिधि मोहन सगोरिया

युवा कविता की एक शाम

अपने समय और सामाजिक सरोकारों से संवाद करतीं खुशबूदार कविताओं के अहसास लिए भोपाल के युवा कवियों ने अरेरा कॉलोनी स्थित वनमाली सृजनपीठ के सभाकक्ष में दस्तक दी। वरिष्ठ कवि-पत्रकार महेन्द गगन की अध्यक्षता में आयोजित इस अनूठे काव्य समागम को आइसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलपति तथा प्रसिद्ध कवि कथाकार संतोष चौबे ने उत्तरदायित्व से भरे युवा रचनाकारों का सार्थक हस्तक्षेप बताया। वनमाली सृजनपीठ द्वारा संयोजित कविता की इस शाम प्रज्ञा रावत, राग तैलंग, कुमार सुरेश, मोहन सगोरिया, संजय मेहता, वसंत सकरगाए, पंकज शुक्ला, हेमंत देवलेकर, रवीन्द स्वप्निल, सौरभ अनंत तथा ज्योति पटेल अनुभूति के नए रंगों से सजी कविताएं लिए श्रोताओं के रूबरू हुए। गोष्ठी का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय तथा कवि दीपक पगारे ने किया।

काव्य पाठ करते हुए युवा कवि सौरभ अनंत। साथ में गोष्ठी के अध्यक्ष कवि-पत्रकार महेन्द्र गगन

इस मौके पर अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में महेन्द गगन ने कहा कि बीते वर्षों में जो कविता घरों-घरानों और घेरों से घिर गई थी उससे बाहर निकलकर अब युवा कवि अपने मुक्त मन की सपनीली उड़ाने भरते नज़र आते हैं। गोष्ठी में रचना पाठ को रेखांकित करते हुए गगन ने विश्वास भरे स्वरों में कहा कि विषय, शिल्प और संप्रेषण के स्तर पर ये कविताएं व्यापक समाज से संवाद करने की ललक प्रस्तुत करती हैं।

अपनी समीक्षात्मक टिप्पणी में संतोष चौबे ने हिन्दी की युवा कविता को एक जिम्मेदार सृजनकर्म बताते हुए कहा कि बहुत से रचनाकारों ने अपनी कविताओं को वैश्वीकरण की नई चुनौतियों और जीवन की जटिलताओं के बीच नए विमर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। ये आज के रचना पटल पर संभावनाओं की भरीपूरी रोशनी का अहसास कराती हैं। सुपरिचित कवयित्री प्रज्ञा रावत में रचना पाठ के लिए 'अकेली श्री' और 'सूना कुछ भी अच्छा नहीं लगता' कविताओं का चयन किया। बानगी के तौर पर उन्होंने पढ़ा 'पृथ्वी ही तो है / निरन्तर गतिमान अपने अक्ष पर / जिसके सीधे खड़े होने की कोशिश में / थर्राने लगती है / समूची प्रकृति /' राग तैलंग ने मानवीय जीवन के मनोविज्ञान और साहित्य के सत्तातंत्र की सचाइयों को बेबाकी से अपनी कविताओं में उद्घाटित किया। कुमार सुरेश ने 'बेहतर की तलाश' और 'ऊब' शीर्षक कविताएं चुनीं। उन्होंने सवालिया लहजे में पढ़ीं 'चीजों के गिरते जाने के खिलाफ / लगातार एक जंग ... पूछते हो तुम / कविता क्या कर सकती है।' हाल ही प्रकाशित कविता संग्रह 'निगहबानी में फूल' से चर्चा में आए युवा कवि वसंत सकरगाए की कविताओं 'बस, एक परिंदे की फिक्र में' तथा 'सुदूर यादों में संजा' को भी श्रोताओं ने बेहद सराहा। इस बीच मोहन सगोरिया ने अपनी भावपूर्ण कविता- 'मैं अंधकार में चमकता तारा / मैं आशाओं से भरा कल' का पाठ किया।

गोष्ठी का संचालन कर रहे दीपक पगारे ने बिटिया की हसरतों का सुंदर बिम्ब 'मुनिया' में उकेरा। उनकी नदी का रूपक गढ़ती कविता ने भी श्रोताओं को प्रभावित किया। कविता में कलात्मक भंगिमाओं के लिए चर्चित हेमंत देवलेकर ने 'राग रुदन' सुनाकर लड़कपन की मासूम ज़िदों का संगीत बिखेरा। कविता और रंगमंच में समान रूप से सक्रिय संजय मेहता ने बैगा आदिवासियों के पारम्परिक विश्वास तथा आदमी और वस्तुओं के रिश्तों का मर्म खोलती कविताएँ पढ़ीं। रवीन्द्र स्वप्निल ने अपने समय का विवरण पेश करतीं कविता में प्रेम के प्रतीकों की तलाश की। सौरभ अनंत ने युवा मन के साथ जुगलबंदी करते सपनों का खूबसूरत अहसास कराया। कवि-पत्रकार पंकज शुक्ला ने यांत्रिकता के दौर में गुम होते सहज संवाद को 'चिट्ठी' शीर्षक कविता में उजागर किया। वहीं मन की धरती पर खिलते प्रेम के वसंत की बानगी भी बहुत आत्मीय बन पड़ी। युवा कवयित्री ज्योति पटेल की शिरकत भी कविता के साथ उम्मीदें जगाने वाली थीं। गोष्ठी में शिरकत करने वाले सभी कविओं को सृजनपीठ के समन्वयक विनय उपाध्याय ने स्मृति चिन्ह भेंट कर सम्मानित किया।

आधी सदी बाद फिर 'अंधा युग'

दिल्ली के फिरोजशाह कोटला किले की दीवारें तकरीबन आधी सदी बाद एक बार फिर महाभारत के उस संदेश का गवाह बनीं जिसका सार था कि युद्ध सिर्फ एक विभीषिका है यह विजेता और पराजित किसी के लिए भी फलदायी नहीं होता है।

महान साहित्यकार धर्मवीर भारती के कालजयी उपन्यास 'अंधायुग' पर आधारित ऐतिहासिक नाटक का दिल्ली में फिरोजशाह कोटला किले में उसी जगह मंचन किया गया जहाँ 49 साल पहले हुआ था। एक सप्ताह तक चलने वाले इस नाटक को देखकर लगा मानो आधी सदी का इतिहास दोहराया जा रहा हो। तब और अब में फर्क सिर्फ महाभारत को जीवंत करने वाले कलाकारों का रहा। पहले 1962 में नाट्य कला को नई ऊंचाई देने वाले निर्देशक इब्राहिम अल्काजी ने इसे निर्देशित किया था और इस बार नाटककार भानू भारती ने इतिहास को दोहराया है। दिल्ली सरकार के साहित्य कला परिषद् द्वारा आयोजित इस नाटक के आज भी प्रासंगिक

होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। परिषद् के सचिव शेखर वैष्णवी ने बताया कि पहले जब इस नाटक का मंचन किया गया था उस समय देश युद्ध के संकट से जूझ रहा था। आज प्रत्यक्ष युद्ध के हालात तो नहीं हैं लेकिन घर परिवार से लेकर सामाजिक स्तर पर व्याप्त वैमनस्यता के कारण हालात युद्ध से भी बदतर हैं। उन्होंने कहा कि यही वजह है कि 49 साल बाद भी 'अंधायुग' का दीदार करने के लिए दिल्ली वाले व्याकुल थे।

गगन दमामा बाज्यौ

म.प्र. नाट्य विद्यालय के छात्रों ने अपनी पहली प्रस्तुति देकर यह साबित कर दिया कि यदि मन में विश्वास और कुछ कर गुज़रने का जज़्बा हो तो कोई भी काम मुश्किल नहीं है।

ड्रामा स्कूल के छात्रों द्वारा भारत भवन में नाटक गगन दमामा बाज्यौ का उत्साहपूर्वक मंचन किया गया। 90 मिनट की इस प्रस्तुति ने दर्शकों को बांधे रखा। बतौर मुख्य अतिथि संस्कृति मंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा मौजूद थे। उन्होंने कहा कि इस नाट्य विद्यालय को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के समकक्ष या उससे आगे ले जाकर खड़ा करना है। म.प्र. पहला ऐसा राज्य है जिसके पास अपना नाट्य विद्यालय है। नाटक मंचन के पहले उन्होंने सभी छात्रों को शुभकामनाएँ दी।

भगतसिंह.. सिर्फ एक व्यक्ति नहीं थे, बल्कि वे विभिन्न आंदोलनों में गढ़े गए थे और उसका सर्वोच्च प्रतीक भी बन गए थे। भगतसिंह की विचारधारा सिर्फ एक व्यक्ति की नहीं बल्कि एक साझा सोच की विचारधारा थी। संजय उपाध्याय द्वारा निर्देशित और पीयूष मिश्रा द्वारा लिखित नाटक में 1913 में हुए जलियाँवाला कांड से लेकर 1931 में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की फाँसी तक की घटनाओं को लिया गया। भगतसिंह और उनके साथियों का सुनियोजित विरोध एवं कांग्रेस से उनका वैचारिक मतभेद भी नाटक में देखने को मिला।

नाटक में भगतसिंह के तार्किक विचार के साथ उनके जोश और भावनाओं को दिखाया गया। उनके काम और जोश को देखकर लगता है कि आज की अफरातफरी की परिस्थितियों में बदलाव की सख़्त ज़रूरत है, इसलिए भगतसिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्र रूप में जानना आवश्यक है। नाटक में अजेश शुक्ला, आकाश जामरा, अमरजी राय, अमृतसिंह परिहार, अविजित सोलंकी, अनिल जाटव, भरत प्रजापति, देवेंद्र अहिरवार, हिम्मत बहादुर, जितेंद्र जायसवाल, मधुर जैन, प्रिया भदौरिया, प्रतिभा जैन, रीता कांकर, संघरत्ना बनकर, सुजीत कुमार, विजय तिवारी, विजय तिवारी, विकास बिहारी, सिकंदर कुमार सहित ड्रामा स्कूल के अन्य छात्रों ने अभिनय किया। नाटक में संगीत संजय उपाध्याय, प्रकाश परिकल्पना अनूप जोशी की थी। वायोलिन पर बृजमोहन बमरेली, तबले पर सुरेंद्र वानखेड़े, हारमोनियम रहीमउद्दीन ने संगत दी।

'चिट्ठी' : काव्यात्मक नाट्य प्रयोग

भोपाल के रंगमंचीय परिदृश्य पर पिछले कुछ समय में युवा रंग निर्देशकों की एक होनहार पौध विकसित हुई है। इन युवा निर्देशकों की सबसे बड़ी विशेषता न केवल विचारों की जीवटता है, बल्कि साथ ही साथ ज़ोखिम उठा कुछ नया करने की धुन भी। इस कड़ी में राजधानी के प्रतिभाशाली युवा रंग निर्देशक अंशपायन सिन्हा हिन्दी बेल्ट में रंगमंच का तमगा रखने वाले एक धूमकेतु की तरह नज़र आते हैं। यूँ तो अभी तक अंश बतौर कलाकार ही प्रमुख रूप से लोगों के सामने अवतरित होते रहे हैं, लेकिन पिछले दिनों वो साहित्यिक क्षेत्र में संलग्न संस्था 'विश्लेषण' के तहत 'चिट्ठी' नाम से कविताओं का कोलाज लिए दर्शकों से संवाद करते नज़र आए।

कविताओं को रंगमंच पर उड़ेलना रंग निर्देशकों के लिए हमेशा से ही चुनौतीपूर्ण रहा है। इसकी एक प्रमुख वजह शायद दर्शकों के रसास्वादन की एक निर्धारित प्रक्रिया भी है। नवागत रंग निर्देशकों की जमात में अंश पायन सिन्हा इस दुरूह कार्य को अपने काव्यात्मक नाट्य प्रयोग 'चिट्ठी' कविता कोलाज के माध्यम से साथी अभिनेताओं को जोड़ भारत भवन के अंतरंग सभागार में अवतरित हुए। 'चिट्ठी' में भोपाल के ही कुछ रंग कलाकारों की कविताओं को शामिल किया गया। उक्त प्रस्तुति की प्रमुख विशेषता इसे उन कलाकारों द्वारा प्रस्तुत करना रहा जिन्होंने इसे स्वयं लिखा भी। 'चिट्ठी' की अपनी कोई पर्टिकुलर थीम नहीं थी। दरअसल ये कविताएँ युवाओं की वर्तमान सोच, पृष्ठभूमि, परिवेश, महत्वाकांक्षा और लक्ष्य को ही संप्रेषित करती हुई थीं। प्रस्तुति में मानस भारद्वाज, पंकज पुरोहित, अरविन्द तिवारी, शिव कटारिया, वंदना मेहतो, हरिनारायण विश्वकर्मा और अंशपायन सिन्हा की कुल 27 कविताओं को स्थान दिया गया। कविताओं के इस कोलाज को आठ हिस्सों में बाँटा गया, जिसे संगीत, कोरियोग्राफी के तड़के के साथ लोगों के सामने पेश किया गया। सामान्य सोच से कुछ अलग करने की खूबी लिए अंश प्रस्तुति में कविताओं के संवेदनात्मक पक्ष को धार देते हुए रचनाओं के भीतर छुपे ड्रामा को भी दर्शकों के सामने रखने में सफल रहे।

बकौल निर्देशक, ''चिट्ठी (कविता कोलाज) एक ऐसी पाती जो ऐसी अभिनय यात्रा हो सकती है जो रिश्तों, समाज, परिवार, प्रेम देश से होते हुए आप तक पहुँच सके।''

अंश को अपनी कल्पना को वास्तविकता का चोला पहनाने में ख़ासी दिक्कतों का भी सामना करना पड़ा। एक प्रमुख समस्या तो युवा रंगकर्मियों की विभिन्न कविताओं में से कुछ चुनिंदा रचनाओं को समेटने

और फिर अलग-अलग मूड की कविताओं को छाँट उन्हें विभिन्न सेगमेंट में डिवाइड करने की रही। इस युवा निर्देशक की सोच को मंचीय आकार देने में दिनेश नायर की मंच परिकल्पना और अजय श्रीवास्तव अज्जू के प्रकाश संयोजन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। **-अरविंद तिवारी**

संजा ने बांधा समाँ

निमाड़ी संस्कृति के प्रमुख पर्व संजा के गीतों से खंडवा का माणिक्य स्मारक वाचनालय गूंज उठा। अवसर था जेसी सप्ताह के अंतर्गत संजा गीत और पुरस्कार वितरण कार्यक्रम का। यहाँ 'छोटी सी गाड़ी लुढ़कती जाए...', 'चल ओ संजा अपुण खेलणं चलां', 'काजल टीकी लेबो भाई' जैसे सुमधुर गीतों की प्रस्तुति आलोचना मांगरोले, आशा उपाध्याय, सुषमा साध ने लगभग एक घंटे तक दी। वादक कलाकार श्रीकृष्ण उपाध्याय, मनोज जोशी, विपुल शर्मा, राजेंद्र उपाध्याय और सूत्रधार संगीता संजय पाराशर थी। मुख्य अतिथि भाजपा जिलाध्यक्ष सुभाष कोठारी, जेसी संस्थापक अध्यक्ष गोविंद झंवर, चंचल गुप्ता थे।

खंडवा में ही शुक्ला कॉलोनी में संजा पर्व के दौरान बालिकाओं की कार्यशाला हुई। सुनीता जोशी और कामना मांगरोले ने संजा गीत गाए गए। अमावस्या को समापन अवसर पर दुल्हा-दुल्हन के रूप में सजकर टोकनियों में संजा को रखकर विसर्जन स्थल ले जाकर विदाई दी। त्यौहार के दौरान लोक गीत गायिका आलोचना मांगरोले ने बालिकाओं को गीत भी सिखाए। निर्णायक इंदिरा पाराशर, सुषमा साध, किरण मार्कंडेय थीं।

निमाड़ी को मिले भाषा का दर्जा

निमाड़ी दिवस के अवसर पर अखिल निमाड़ लोक परिषद् (खंडवा) के तत्वावधान में निमाड़ लोक संस्कृति न्यास में गोष्ठी हुई। अध्यक्षता कैलाश पालीवाल ने की। मुख्य अतिथि वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता राजेंद्र उपाध्याय थे।

वक्ताओं ने कहा कि निमाड़ी को भाषा बनाने विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए। गोष्ठी दो सत्रों में हुई। मुख्य अतिथि पालीवाल ने कहा कि निमाड़ी दिवस के अवसर पर शिक्षण संस्थानों में अवकाश हो और निमाड़ी दिवस को वृहद स्तर पर मनाया जाए। उन्होंने कहा- निमाड़ी विश्वविद्यालय, निमाड़ी प्रांत और निमाड़ी को भाषा बनाने के प्रस्ताव शासन स्तर पर लंबित है, जिन पर अमल किया जाए। गोष्ठी में ललित नारायण उपाध्याय ने अखिल निमाड़ लोक परिषद की प्रगति की जानकारी दी। हेमलता उपाध्याय ने 150 गीतों की शासन द्वारा कैसेट बनाकर देश में गणगौर एवं आलोचना मांगरोले द्वारा संझा की कैसेट का देश में प्रचार-प्रसार करने की मांग की। उन्होंने सुषमा सिटोके एवं पूर्णिमा चतुर्वेदी के भित्तिचित्रों का उल्लेख किया। डॉ. नीरज दीक्षित ने निमाड़ी की छोटी पुस्तकों के प्रकाशन पर जोर दिया। उन्होंने गोविंद सेन की कविता का वाचन किया। अनिमेष उपाध्याय ने कहा वे इंदौर में रहकर निमाड़ी सुनाना चाहते हैं। राजेंद्र उपाध्याय ने कहा कि अग्रजों का नई पीढ़ी को प्रोत्साहन जरूरी है, इससे उन्हें नए कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। दूसरे सत्र में शांता गीत ने कविता का पाठ किया। सुरेश जोशी ने निमाड़ी में हास्य काव्य पढ़ा। संचालन मंगला चौरे ने किया एवं आभार हेमंत उपाध्याय ने माना।

'श्मशान महाभारत'

भोपाल के युवा रंग निर्देशक तारिक दाद ख़ान दर्शकों के सामने अपनी नवीन प्रस्तुति श्मशान महाभारत के साथ अवतरित हुए। नाटक के कथानक में इतिहास का खलनायक दुर्योधन अपनी कर्तव्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, ईमानदारी और मानवीय गुणों के साथ स्थान पाता है।

4 नवंबर की शाम दर्शकों से सीधे संवाद का हिस्सा बने इस नाटक की परिकल्पना हिन्दी के दो पौराणिक विषयों पर आधारित नाटकों को क्रमबद्ध कर की गई। प्रथम नाटक महाभारत की एक सांझ (भारत भूषण अग्रवाल) जिसका प्रथम मंचन 26 जनवरी 2011 को शिवपुरी में किया गया के प्रदर्शन से उत्साहित हो तारिक ने श्मशान कुरुक्षेत्र (कुवेंपु पुटप्पा) को इसमें जोड़ श्मशान महाभारत की परिकल्पना को आकार दिया। दोनों ही अलग-अलग नाटकों की विषयवस्तु में समानता के चलते उक्त प्रदर्शित नाटक एक ही प्रतीत होता है। प्रथम अंक महाभारत की एक सांझ में दुर्योधन की मनःस्थिति को आधुनिक मूल्यों के संदर्भ में रूपायित किया गया है। इसमें रूढ़ मान्यताओं को जैसा-तैसा स्वीकार ना कर, उन्हें विश्लेषित करने की स्वीकृति प्रदान की गई। वहीं दूसरे अंक श्मशान कुरुक्षेत्र में युद्ध की विभीषिका के साथ लेखक ने दुर्योधन के मानवीय पक्ष को उजागर किया है।

उक्त नाटक की सफलता निर्देशक के प्रयास के रूप में तो दर्शित की जा सकती है, लेकिन कला के विशुद्ध माध्यम रंगमंच पर यह अपनी संपूर्णता के साथ नहीं उतरता। नाटक में लेखन और निर्देशन के स्तर पर मूलभूत खामियाँ हैं, जिनकी ओर आगामी प्रदर्शनों के दौरान ध्यान देना होगा। वैचारिक आधार पर नाटक में दुर्योधन द्वारा अपने कृत्यों के समर्थन में जो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं वो दर्शकों के लिए आसानी से ग्रह नहीं हैं, क्योंकि उसके प्रत्येक तर्क में पेंच है। यहां यह बात गौरतलब है कि सवाल तभी खत्म होता है जब जवाब तार्किकता से पूर्ण हो। तर्क की अनुपस्थिति में सवाल का अस्तित्व बना ही रहता है। नाटक में मुख्य पात्र दुर्योधन द्वारा अपने कृत्यों के पक्ष में उकेरे गए चित्र अपूर्ण हैं। मनुष्य की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति पर रोक नहीं लगाई जा सकती, लेकिन कालान्तर का दुर्योधन, समाज अवधारणा की लंबी प्रक्रिया से ही गुजर दुर्योधन बना है, इसे भी नहीं नकारा जा सकता है। तारिक आगामी प्रदर्शनों में स्क्रिप्ट के स्तर पर अमूलचूक डेवलपमेंट कर सकते हैं।

नाटक के प्रदर्शन में नागवार कमियों का उल्लेख जरूरी है। नाटक का एक हिस्सा पूर्व में मंचित हो चुकने के कारण, यहाँ निर्देशक को दूसरे हिस्से को संवारने में ही अपनी खासी ताकत झोंकनी पड़ी होगी। राहुल शर्मा (दुर्योधन) निर्मल तिवारी (द्वापर) शुभांकर दीक्षित (शिव) विशाल चतुर्वेदी (कृष्ण) की भूमिकाओं को छोड़कर अन्य कलाकार कमतर साबित होते हैं। महिला कलाकारों में रश्मि गुप्ता (गांधारी) ने प्रभावित किया। संगीत नाटक से इतर है। रामबाबू का प्रकाश संयोजन अच्छा रहा।

-अरविंद तिवारी

छोटे निर्देशकों का बड़ा समारोह

संस्कृत बाल नाट्य उत्सव

म.प्र. कालिदास संस्कृत अकादमी, म.प्र. संस्कृति परिषद्, उज्जैन द्वारा डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' स्मृति संस्कृत बाल नाट्य महोत्सव का आयोजन इनटेलेक्चुअल पब्लिक वेलफेयर एण्ड ट्रेनिंग फॉर आर्ट सोसायटी हरदा के स्थानीय सहयोग से, पॉलीटेक्निक सभागार में किया गया। आयोजन महाकवि भास के नाटकों पर केन्द्रित था जो पारम्परिक रंगकर्म के प्रति तरुणों को आकृष्ट करने एवं उनमें कला संस्कारों के पोषण के उद्देश्य से किया गया। महोत्सव में इनटेलेक्चुअल पब्लिक वेलफेयर ट्रेनिंग फॉर आर्ट सोसायटी (इप्टा) द्वारा संजय तेनगुरिया के निर्देशन में महाकवि भास रचित संजय श्रोत्रीय के निर्देशन में 'दूत घटोत्कच' और नट निमाड़ कला समूह खंडवा द्वारा प्रशान्त के निर्देशन में 'मध्यमव्यायोग' की मूल संस्कृत में बाल नाट्य प्रस्तुतियाँ की गईं।

भास रचित नाटक 'दूतवाक्यम्' में महाभारत कालीन इस घटना का विवरण है जिसमें श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से दूत के रूप में पाण्डवों का राज्य में हिस्सा मांगने आते हैं, किन्तु दुर्योधन द्वारा यह तर्क देकर मना कर दिया जाता है कि- ''वन में पाण्डू को शाप मिला था जिसके कारण वे स्त्री से संसर्ग नहीं कर सके थे और ये पाँचों पुत्र देवपुत्र हैं तो देवपुत्रों की इंसानों से हिस्सेदारी कैसी? संजय श्रोत्रीय 'होशंगाबाद' के निर्देशन में मास रचित नाटक 'दूत घटोत्कच' की प्रस्तुति हुई, प्रसंग इस तरह है कि युद्ध में वीर अभिमन्यु मारा जाता है, यह सूचना जब महाराज धृतराष्ट्र एवं गान्धारी को मिलती है उन्हें अपने पुत्र दुर्योधन की करनी से अत्यन्त ग्लानि होती है, उन्हें उसी समय अपने सौ पुत्रों के मारे जाने का एहसास होने लगता है, वे स्वयं की विवशता से दुःखी होते हैं। उधर दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि अभिमन्यु वध से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और यह खुशखबरी सुनाने महल में आते हैं, किन्तु महाराज धृतराष्ट्र द्वारा उन्हें तीखी आलोचना का सामना करना पड़ता है; अभिमन्यु के वध के परिणाम में हस्तिनापुर के सर्वनाश हो जाने की बात धृतराष्ट्र द्वारा दुर्योधन को कही जाती है किन्तु अहंकार में डूबा दुर्योधन अपने पिता की किसी भी बात को स्वीकार नहीं करता। इसी समय पाण्डवों की ओर से दूत घटोत्कच श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रतिज्ञा एवं संदेश लेकर धृतराष्ट्र के महल में प्रवेश करता है; जिसे सुनकर दुर्योधन, शकुनि एवं दुःशासन द्वारा उसका उपहास किया जाता है, जिससे घटोत्कच क्रोधित होता है, किन्तु दूत होने के कारण, महल में किसी को भी हानि पहुँचाए बिना, महाराज धृतराष्ट्र के कहने पर शांत हो वापस पाण्डव शिविर की ओर लौट जाता है, यहीं नाटक दूत घटोत्कच समाप्त होता है।

नट् निमाड़ कला समूह द्वारा महाकवि भास की परिकल्पना पर आधारित नाटक 'मध्यमव्यायोग' का मंचन किया गया। इस नाटक में पाण्डूपुत्र भीम का अपने पुत्र घटोत्कच एवं पत्नी हिडिम्बा से मिलन एक घटनाक्रम के माध्यम से दर्शाया गया है। अंत में ब्राह्मण के पैरों पर गिरता हुआ घटोत्कच मानवता की पशुता पर विजय का उद्घोष करता है। यह सुखान्त नाटक भरतवाक्य से समाप्त होता है। तीनों दिन नाटकों का प्रदर्शन स्तरीय रहा। संस्कृतनाट्याचार्य इस पर तर्क दे सकते हैं कि नाटकों के प्रदर्शन में संस्कृत नाटक का शास्त्रीय पक्ष आहत हुआ है। किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि तीनों निर्देशक महानगरों के मोह से दूर रहकर कस्बों में संसाधनों के अभाव में काम कर रहे हैं।

'डेढ़ इंच ऊपर'

सत्रह जुलाई का यह दिन स्विस थिएटर और ओपेरा निर्देशक ल्यूक बोंडी के जन्मदिन के लिए जाना जाता है जिन्होंने विलियम शेक्सपियर के 'मैकबेथ' नाटक के मंचन सहित विश्व के कई प्रसिद्ध नाटकों का मंचन किया था। इस अद्भुत निर्देशक के जन्म दिन के संयोग पर ही इंदौर के रंगमंच पर एक असाधारण अभिनय प्रतिभा का धनी अभिनेता अपने अभिनय कौशल से निर्मल वर्मा की कालजयी रचना 'तीन एकांत' में से एक 'डेढ़ इंच ऊपर' को जीवंत कर रहा था।

इंदौर की क्रांतिकारी संस्था 'सूत्रधार' के बैनर तले मंचित हुए इस नाटक का निर्देशन शरद शबल और अभिनय अमित राठौर ने किया। एक घंटे की अवधि के इस नाटक को देखकर रंगमंच के कई कलाकारों ने अमित के आत्मविश्वास भरे अभिनय की भूरी भूरी प्रशंसा की। निर्देशक और अभिनेता, की इस जुगलबंदी ने एक नई संभावना की आहट दी। खंडवा के नाट्य समूह 'नट निमाड़' के अध्यक्ष शरद जैन ने जब सूत्रधार के निर्मल वर्मा की कहानी मंचन के बारे में सुना था तो उन्हें आशंका थी कि इंदौर के कलाकार इस नाटक के साथ न्याय करेंगे या नहीं लेकिन इस अतिथि दर्शक ने मुग्धमन से साधुवाद दिया।

-श्याम दांगी/माही मीत

भ्रष्टाचार के खिलाफ

महाराष्ट्र समाज भवन में रतलाम के मराठी नाटक 'चव कशी आहें' (स्वाद कैसा है) का मंचन हुआ। बाबा डिके द्वारा लिखित एवं श्रीराम जोग के निर्देशन में नाटक को आज के परिप्रेक्ष्य में देखना सुखद अनुभव था। कथानक के अनुसार

किसी शहर में अचानक पता चलता है कि दिल्ली से कोई जाँच अधिकारी शहर के प्रशासनिक कार्यों का निरीक्षण करने आया है और छोटे होटल में ठहरा है। यह खबर वहाँ के भ्रष्ट अधिकारियों को मिलती है तो वे उसे खोजते हैं। इनके मुखिया राव साहब भ्रष्ट व्यक्ति हैं। ये लोग जाँच अधिकारी समझकर सेवा कर रहे हैं वह जांच अधिकारी न होकर नाटक कंपनी का अभिनेता है और प्रत्यक्ष जीवन में अभिनय करने का कोई मौका नहीं छोड़ता। वह इन भ्रष्ट अधिकारियों को बेवकूफ बनाकर रुपये हड़पकर निकल जाता है। भ्रष्टाचारियों को सज़ा देने वाली इस मुहिम में राव साहब की बेटी जानबूझकर उसकी मदद करती है।

यह नाटक संदेश देता है कि घर से ही भ्रष्टाचार के विरोध का स्वर उठेगा तो ही समाज में व्याप्त इस बुराई का अंत हो सकेगा। श्री राम जोग (राव साहब) ही केन्द्रीय भूमिका में हैं और नाटक इन्हीं के इर्द-गुर्द घूमता है। उनका अभिनय तो बेजोड़ है साथ ही सहयोगियों का अभिनय भी इसे सफल बना देता है। रंगमंच व्यवस्था बिना तामझाम साफ सुथरी। मंच पर राव साहब के घर के हाल में लगी तस्वीर प्रसन्न नीचे उल्लू का चित्र बहुत कुछ बयान कर जाता है। **-पद्माकर पागे**

'शेवन्ता ज़िन्दा है'

कभी-कभी छोटी-छोटी बातें किसी व्यक्ति को कैसे उद्वेलित करती हैं कि वह सब कुछ छोड़कर उसके तह तक पहुंचना चाहता है। ऐसा रेलगाड़ी के संडास में लिखा एक वाक्य 'शेवन्ता जित्ती हाय' एक व्यक्ति के दिमाग में ऐसा घर कर जाता है कि वह उसकी खोज में लग जाता है पुलिस स्टेशन पर रिपोर्ट दर्ज़ कराने जाता है पुलिस असमंजस में है कि इसकी तलाश कैसे की जाए। वह उस व्यक्ति से पूछती है कि शेवन्ता उसकी कोई रिश्तेदार है उसका फोटो बगैरे कुछ पहचान के लिए उसके पास है वह केवल यही बात दोहराता है कि मुझे यकीन है कि वह जिन्दा है उसे खोजा जाना चाहिये। लाख समझाने पर भी वह समझने को तैयार नहीं है। पुलिस हरकत में आती है उसे इस प्रकरण में कुछ तार जुड़ते नजर आते हैं और फिर कई बातें सामने आने लगती हैं।

दर्शक अन्तिम क्षणों तक उस आम इन्सान की संवेदनाओं में बहता चला जाता है। क्या हुआ आखिर शेवन्ता को? इस वाकये में शरीफ लोगों का क्या हश्र हुआ इन सभी सवालों के रोचक जवाबों का पुलिन्दा है ''शेवन्ता जित्ती हाय'' (शेवन्ता जिन्दा है)। रतलाम में संस्था 'अविरल' (इन्दौर) द्वारा श्री प्रह्लाद जादव लिखित नाटक का मंचन महाराष्ट्र समाज भवन में हुआ। आम आदमी (राहुल भराड़े) ने अपने पात्र के साथ न्याय करते हुए प्रभावी अभिनय का परिचय दिया। मनोज देवरे, परशुराम, अभिजीत नीम गाँवकर ने अपनी भूमिका का परिचय दिया। उदय इंगले के निर्देशन में समाज में प्रभावी लोगों द्वारा की जा रही काली करतूतों का भंडाभोड़ करती यह एक उम्दा प्रस्तुति थी। **-पद्माकर पागे**

भारतेन्दु जयंती पर संवाद

आधुनिक हिन्दी के जनक भारतेन्दु हरिशचन्द की 161वीं जयंती पर कोटा के ढण्डा भवन में 'विकल्प जन सांस्कृतिक मंच द्वारा उनके प्रसिद्ध नाटकों 'अंधेर नगरी' व 'भारत दुर्दशा' पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। गोष्ठी की अध्यक्षता शायर अखिलेश अंजुम ने की। परिचर्चा का प्रारंभ करते हुए शकूर अनवर ने हरीशचन्द्र की अनेक रचनाओं से उदाहरण पेश करते हुए बताया कि भारतेन्दु हिन्दी, बांग्ला, बृज भाषा, अवधि के साथ-साथ उर्दू के भी सिद्धहस्त शायर थे। गोष्ठी की प्रमुख वक्ता डॉ. प्रेम जैन ने 'भारत दुर्दशा' पर विषद टिप्पणी करते हुए कहा कि भारतेन्दु ने अपने अल्प जीवन में 20 नाटकों सहित 50 से अधिक पुस्तकें लिखीं तथा अनेक पत्रिकाओं द्वारा पूरे देश में हिन्दी एवं नव जागरण की चेतना का संचार किया। प्रो. हितेश व्यास ने भारतेन्दु के नाटक 'अंधेर नगरी' पर अपने लिखित आलेख में कहा कि भारतेन्दु का यह नाटक वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रासंगिक नाटक है। उन्होंने नाटक के पात्र महन्त के संवाद का उल्लेख करते हुए कहा कि ''यह नगर तो दूर से बड़ा सुन्दर दिखाई देता है, यहां लोग तो बड़े मालवर दिखाई देते हैं''। परिचर्चा में प्रो. टी.सी. गुप्ता, भगवती प्रसाद गौतम, नारायण शर्मा, महेन्द्र पाण्डेय, त्रिलोक सिंह आदि ने भी अपने विचार व्यक्त किये। संचालन महेन्द्र नेह ने किया। **-महेन्द्र नेह**

स्वयंप्रकाश को 'कथाक्रम सम्मान'

वरिष्ठ कथाकार स्वयं प्रकाश 'आनंद सागर कथाक्रम सम्मान' से लखनऊ में विभूषित हुए। सम्मान का निर्णय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त प्रख्यात लेखक श्रीलाल शुक्ल की अध्यक्षता वाली कथाक्रम सम्मान समिति द्वारा लिया गया। कथा लेखन के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान करने वाले लेखक को प्रतिवर्ष दिये जाने वाले इस पुरस्कार के तहत 15 हजार रुपए नकद तथा प्रशस्तिपत्र दिया जाता है। स्वयं प्रकाश अपनी कहानियाँ और उपन्यासों के लिये प्रख्यात हैं। वह अब तक पांच उपन्यास लिख चुके हैं जबकि उनके नौ कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इससे पहले स्वयं प्रकाश को, वनमाली कथा सम्मान और राजस्थान साहित्य अकादमी तथा पहल सम्मान पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है।

इब्बार रब्बी-प्रभात को 'कविता समय' सम्मान

कविता समय सम्मान हिन्दी के वरिष्ठ कवि इब्बार रब्बी को और युवा कवि प्रभात को जनवरी में जयपुर में हो रहे दूसरे सालाना आयोजन में दिया जायेगा। यह सम्मान 'प्रतिलिपि' और 'दखल विचार मंच' के सहयोग से हिन्दी कविता के प्रसार, प्रकाशन और उस पर विचार विमर्श के लिए 2011 में ग्वालियर में बोधिसत्व, गिरिराज किराडू और अशोक कुमार पाण्डेय द्वारा स्थापित मंच कविता समय की ओर से दिये जाते हैं। कविता समय सम्मान के तहत एक प्रशस्ति पत्र और पाँच हजार रुपये की राशि तथा कविता समय युवा सम्मान के तहत एक प्रशस्ति पत्र और ढाई हजार रुपये की राशि प्रदान की जाती है।

रमेश दवे का अमृतोत्सव

'प्रो. रमेश दवे सृजन के प्रति समर्पित उस व्यक्तित्व का नाम है जिसे अपने लेखन कर्म में आत्मीय आनन्द आता है अखबारों में पत्र लेखन से लेखन की शुरुआत कर वे सामाजिकता की ओर अग्रसर हुए।'

यह उद्‌गार सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'समावर्तन' हिन्दी मासिक द्वारा आयोजित साहित्यकार प्रो. रमेश दवे के अमृत महोत्सव के अवसर पर अध्यक्षता करते हुए व्यक्त किया। मुख्य अतिथि म.प्र. राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के मंत्री संचालन कैलाश चन्द्र पंत ने कहा कि एक श्रेष्ठ शिक्षक तथा सृजनशील मनीषी का यह सम्मान सामाजिक दायित्व का प्रतीक है। डॉ. रमेशचन्द्र शाह ने कहा कि दवे जी एक आलोचक और रचनाकार के रूप में सृजन कर्म करते हैं। प्रो. प्रमोद त्रिवेदी ने श्री दवे को आत्मीय व्यक्तित्व बताते हुए उनके सृजन को रेखांकित किया। समावर्तन के संस्थापक सम्पादक और कवि, नाट्‌य निदेशक डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य ने प्रो. दवे को तरल-सरल लेखक एवं सुयोग्य संपादक निरूपित करते हुए समावर्तन परिवार एवं अन्य संस्थाओं द्वारा तैयार अभिनंदन पत्र भेंट किया। प्रणति भट्टाचार्य, मुकेश वर्मा, और निरंजन श्रोत्रिय द्वारा भी अभिनन्दन किया गया। कार्यक्रम का संचालन समावर्तन के कार्यकारी संपादक श्रीराम दवे ने किया।

अमृतोत्सव के दूसरे सत्र में मुख्य अतिथि विलास गुप्ते (इन्दौर) ने कहा कि दवे ने साहित्य के पाठकों पर हावी होने की अपेक्षा उनसे सीधे संवाद किया। आलोचक कवि प्रो. विजय बहादुर सिंह ने कहा कि रमेश दवे का सृजन उस राजनीति या मूल्यों का मोहताज नहीं रहा जहाँ पुरस्कारों की बाढ़ में साहित्यकार बह जाते हैं। इतिहासविद्‌ डॉ. श्यामसुन्दर निगम और कथाकार सूर्यकान्त नागर ने कहा कि दवे जी ने अलग-अलग दृष्टिकोणों के साथ लेखन किया है।

एक अन्य सत्र में सी.वी. रमन विश्वविद्यालय के कुलाधिपति तथा आईसेक्ट प्रमुख श्री संतोष चौबे ने समावर्तन के कार्यकारी संपादक और प्रगतिशील लेखक संघ, उज्जैन के अध्यक्ष श्रीराम दवे के तीसरे काव्य-संग्रह ''आग तुम रहस्य तो नहीं'' को लोकार्पित किया। रमेश दवे ने कहा कि- ''इन कविताओं में लोक जीवन की झाँकी है तो आधुनिकता की चिन्ता भी है। कृतिकार श्रीराम दवे ने इस अवसर पर कृतज्ञता व्यक्त करते हुए अपनी 7 कविताओं का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन अंबेड़कर शोध पीठ की शोध निदेशक डॉ. निवेदिता वर्मा ने किया तथा आभार माना मुकेश वर्मा ने। 'समावर्तन' में प्रकाशित 'रेखांकित' स्तम्भ (निरंजन श्रोत्रिय) के बारह कवियों का संकलन 'युवा द्वादश' के लोकार्पण के साथ कविता पोस्टर प्रदर्शनी भी ख़ूब सराही गई।

'खेल गुरु' में आज की सच्चाइयाँ

उपन्यास 'खेल गुरु' के माध्यम से हमारे ज़माने की सच्चाइयों को पहचाना जा सकता है। कथाकार रमेश दवे ने एक कहानी को उपन्यास का रूप दिया है। यह पुरुष दिमाग से लिखा गया एक पठनीय और अच्छा उपन्यास है। यह बात वरिष्ठ आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह ने कही।

वे रमेश दवे के हाल ही में प्रकाशित उपन्यास 'खेल गुरु' पर विमर्श के लिए स्पंदन संस्था द्वारा आयोजित गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे थे। स्वराज भवन भोपाल में हुए इस आयोजन में प्रख्यात आलोचक, चिंतक और कथाकार रमेश दवे ने अपने इस उपन्यास के चयनित अंशों का पाठ करते हुए अपनी रचना प्रक्रिया से अवगत कराया। उन्होंने कहा कि खेल विषयों को लेकर अभी तक कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ है विशेषकर व्यक्तिगत खेलों को लेकर इसलिए इस उपन्यास में न केवल खेल है बल्कि खेलों के अंदर होने वाले षड़यंत्र और खेल गुरु के व्यवहार की कथा रचने की कोशिश की गई है।

विशिष्ट वक्ता कथाकार संतोष चौबे ने कहा कि यह नए तरह का उपन्यास है बल्कि इस विषय पर हिन्दी में लिखा संभवतः पहला उपन्यास भी है। इसमें खेल, संस्थानों, केरल की पृष्ठभूमि और भारतीय समाज की अंतरकथा बहुत सुंदर ढंग से कही गई है। आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी ने कहा कि रमेश दवे का उपन्यास खेल गुरु कई स्तरों पर अपनी बात कहता है। अपनी तरह के इस पहले उपन्यास में खेल के साथ ही स्त्री विमर्श को भी महसूस किया जा सकता है। इसे पढ़कर महिला खिलाड़ियों द्वारा झेली जाने वाली त्रासदियों और परेशानियों से रू ब रू हुआ जा सकता है। उपन्यास के प्रकाशक महेश भारद्वाज ने कहा कि यह बिल्कुल नई विषय वस्तु, भाषा और पठनीयता से भरा हुआ उपन्यास है। यह कृति उपन्यासों की विषय वस्तु में प्रचलित एकरसता को भी तोड़ता है। बेहतरीन भाषा इसकी विशेष उपलब्धि है। उपन्यास पर मुकेश वर्मा और प्रमोद त्रिवेदी ने भी अपने विचार व्यक्त किए। संचालन डॉ. उर्मिला शिरीष ने किया।

निमाड़ उत्सव

कलाओं को ज़मीनी हदें रास नहीं आतीं। वे अपने रूप, रस और गंध को लेकर शांति, सौहार्द और समरसता का पैग़ाम देने देश-देशांतर की सैर पर निकल पड़ती हैं। नर्मदा के सुरम्य तट पर कलाओं का ऐसा ही बहुरंगी मेला पिछले दिनों निमाड़वासियों को अपनी ओर खींच लाया चाँदनी में नहाई कार्तिक पूनम की रात जब अहिल्या घाट महेश्वर पर बने मंच पर सुर, लय और ताल का मिलन हुआ तो अनेकता में एकता का सनातन सूत्र एक बार फिर साकार हो उठा।

म.प्र. आदिवासी लोक कला और बोली विकास परिषद् के संयोजन में आयोजित यह 19वाँ लोकोत्सव था। निमाड़ अंचल के पारंपरिक गीतों की खनक लिए मनीषा शास्त्री, विभा शर्मा, सुधा पगारे, प्रीति साध ने दस्तक दी तो काठी, गणगौर, बधाई, नौरता, मटकी जैसे अनुष्ठान से जुड़े लोकनृत्यों के साथ भील, कोरकू और गोंड आदिवासियों ने भी अपनी ढोल-मांदर की थापों पर थिरकन का उल्लास जगाया। जाने-माने कथक नर्तक पंडित राजेन्द्र गंगानी ने नर्मदा किनारे 'शिव प्रसंग' साकार किया तो श्वेता शर्मा और क्षमा मालवीय ने सौन्दर्य की नदी नर्मदा की गाथा को नृत्य संगीत और अभिनय की छवियों से सजाया। 'म्हारो प्रणाम' का संदेश प्रेम की बावरी मीरा के सुनहरे अध्याय खोलता रहा। अहिल्या बाई के भव्य किले के पास इसी मंच पर मालवी, बुंदेली निमाड़ी और बघेली कविताओं ने मिट्टी की सौंधी महक बिखेरी। छलकती दरिया पर मचलते केवटों ने नौकाएँ सजायी, पानी की सतह पर दौड़ लगाई और एक लाख से भी ज़्यादा के ईनाम बटोरे।

निमाड़ उत्सव की रंगत लोक-श्रद्धा, लोक-आस्था और लोक-चेतना का प्रतीक बन गई है। लालित्य और कौशल का ऐसा संगम, जिसमें शामिल होकर जीवन की आदिम स्मृतियों का संगीत सुना जा सकता है।

यही कारण है कि यह उत्सव आज निमाड़ के जन-जन की आवाज़ बन गया है। परंपरा से जुड़े लोक-सृजन का यही चमत्कार है। कलाओं की इन्द्रधनुषी छटाओं के सम्मोहन में महेश्वर ही नहीं, दूरदराज के पर्यटक और ग्रामीण बड़ी तादाद में उमड़े। यह मनोहारी नज़ारा आधुनिकता के तमाम आग्रहों के बीच परंपरा से प्रगाढ़ भारतीयता का जीवंत प्रमाण था।

आजाद बाँसुरी

तकनीकी से लबरेज़ दुनिया में जहाँ भारत ने अपनी एक अलग जगह बनायी है वहाँ आज नई पीढ़ी शायद उस भारत के बारे में उतना नहीं जानती जब इसे सोने की चिड़िया कहा जाता था और अंग्रेजों ने इस पर कब्ज़ा कर इसे गुलाम बना लिया था। तब हमारे लोगों ने किस तरह संघर्ष कर इसे आज़ाद कराया। आज बच्चों को स्वाधीनता संग्राम के संघर्षों एवं उन शहीदों के बलिदानों से अवगत कराने के उद्देश्य से 'डॉ.

शंकर दयाल शर्मा' के जन्मदिवस पर स्वराज संस्थान संचालनालय ने स्वाधीनता संग्राम और जन चेतना पर आधारित बाल नाट्य समारोह का आयोजन किया। संस्था इस समारोह का आयोजन पिछले २ वर्षों से कर रही है। स्वाधीनता संग्राम के संघर्षों से बच्चों को अवगत कराना और रंगमंच की शिक्षा देना संस्था का उद्देश्य रहा। इसके तहत एक महीने की वर्कशॉप में बच्चों को रंगमंच की बारीकियों की शिक्षा भोपाल के रंगकर्मियों ने दी एवं नाटक तैयार किये। इसमें विभिन्न स्कूलों के बच्चों ने हिस्सा लिया। नाटकों की पहली प्रस्तुति उन्हीं के स्कूलों में 15 अगस्त को हुई एवं 19 से 22 अगस्त के बीच बाल नाट्य समारोह के अंतर्गत रवीन्द्र भवन सभागार में सभी नाटकों का एक साथ मंचन किया गया।

समारोह का शुभारंभ डॉ. शंकर दयाल शर्मा के अनुज सोमेश्वर दयाल सक्सेना और संचालक संस्कृति संचालनालय श्रीराम तिवारी ने किया। समारोह के पहले दिन मनोज नायर द्वारा निर्देशित नाटक 'नील विद्रोह' और चंद्रहास तिवारी के निर्देशन में 'आविष्कार जूते का' का मंचन किया गया। अगले दिनों में विश्ना चौहान और शोभा चटर्जी ने 'गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर' को केन्द्र में रखते हुए उनकी रचनाओं पर नाटक तोता और मूर्ख राजा और मुकुट तैयार किये। सरोज शर्मा ने 'वीरांगना वीरमती', आनंद मिश्रा ने 'तात्या टोपे' और इरफ़ान सौरभ ने 'फीस' नाटकों को निर्देशित किया। उज्जैन के राजेन्द्र चावड़ा ने शहीद भगत सिंह की कहानी को एक बार फिर याद किया। समारोह की अंतिम प्रस्तुति गोपाल दुबे द्वारा निर्देशित नाटक 'अनाम शहीद' हिन्दी के प्रख्यात कवियों 'हरिवंश राय बच्चन, माधव शुक्ल, हेमानंद रावत, सोहन लाल द्विवेदी, मुज़्तरीब और राम प्रसाद बिस्मिल की देशभक्ति कविताओं से ओतप्रोत रही। **-एकता गोस्वामी**

उन्हें थाली में चाँद चाहिए...

ख़्वाब शरारती हो गए, उन्हें थाली में चाँद चाहिए, कटोरी में सितारे, गिलास में चांदनी, चम्मच में रोशनी, भला रोज मोहब्बत की खीर कैसे बनाऊँ, ज़िदें पूरी करने से बच्चे बिगड़ जाते हैं...। ये अंश है ममता तिवारी की काव्य मंजूषा 'रेशमी ख़्वाब मख़मली रातें' से, जिन्हें आवाज़ दी रंगमंच और सिनेमा के सुप्रसिद्ध अभिनेता पद्मश्री टॉम ऑल्टर ने। भोपाल की झील के किनारे होटल अशोका में आयोजित समारोह में सुपरिचित कवयित्री ममता तिवारी की काव्य मंजूषा 'रेशमी ख़्वाब मख़मली रातें', 'चुभती दोपहर' तथा कविता संग्रह 'क्या कह रही है ज़िन्दगी' के दूसरे संस्करण का लोकार्पण किया। ऑल्टर ने कविता संग्रह एवं मंजूषा से कुछ कविताओं का पाठ किया। उन्होंने कहा कि संग्रह की कविताएँ रेशमी

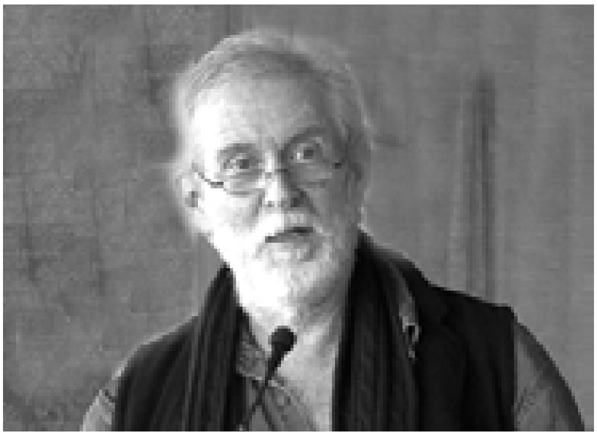

ख़्वाबों से भरपूर हैं। काव्यपाठ की श्रृंखला में कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने ममता तिवारी की कविता 'मैं इक अधूरी नज़्म का टुकड़ा/ तलाशती रही सारी उम्र/अपना बाकी मन/तू मिला/बस..., प्रस्तुत कर एक अलग ही अंदाज़ की झलक दिखाई।

वहीं रंगकर्मी बद्र वास्ती ने ममता की काव्य पंक्तियों 'ताज्जुब तो ये होता है कि/उन्हें अपना गम बड़ा मालूम होता है/मेरा लम्हा तुम्हारे लम्हे से दोस्ती चाहता है' को अनूठे अंदाज़ में पेश किया। ममता ने अपनी अनेक रचनाओं का पाठ करते हुए पाठकों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय के निदेशक राजुरकर राज ने भी संबोधित किया।

नई सामाजिक अपील की दस्तक

'द ओशियन ऑफ ब्लिस' लोकार्पित

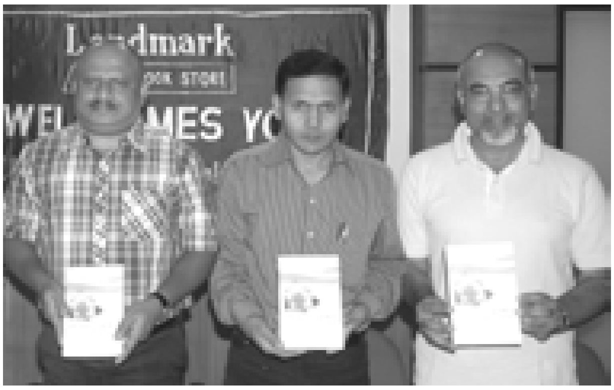

विरासत में मिली विसंगतियाँ, रूढ़ परंपराओं को ढोती पीढ़ियाँ, और बेसाख़्ता इन अनचाहे हालातों से जूझकर अपने सपने और संघर्ष पर फ़तह पाती इच्छाशक्ति। ऐसे ही रोचक ताने-बाने की मिसाल बना है उपन्यास 'द ओशियन ऑफ ब्लिस'। दिलचस्प पहलू है कि इस अंग्रेज़ी फिक्शन के साथ कलम आज़माने की कवायद मध्यप्रदेश के राज्य प्रशासनिक अधिकारी नियाज़ अहमद ख़ान ने की है। मुंबई के 'लीडस्टार्ट पब्लिशिंग' (फ्रॉग बुक्स) द्वारा प्रकाशित करीब सौ पृष्ठों की यह किताब मुस्लिम समाज के प्रचलित बहुविवाह परंपरा के बच्चों पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों की बात तो करता है, महत्वाकांक्षा और आत्मविश्वास के बीच जारी संघर्ष तथा सफलता के सूत्र भी खोलता है। सामाजिक यथार्थ और सिस्टम के प्रति आक्रोश का फ़लसफ़ा तैयार करते इस उपन्यास में तर्क संगत विचारों का कथात्मक रूपक तैयार हुआ है। भोपाल में आयोजित सादगीपूर्ण समारोह में अंग्रेज़ी साहित्य के चिंतक लेखक तथा अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक बी. मारिया कुमार ने इस कृति का लोकार्पण किया। श्री मारिया ने नियाज़ अहमद ख़ान के लिए 'द ओशियन ऑफ ब्लिस' उपन्यास की शक्ल में आना निजी उपलब्धि हो सकती है लेकिन पाठकों के लिए बेशक यह कृति हमारे वक़्ती दौर में नई सामाजिक अपील की दस्तक है। ढाई सालों के लंबे अंतराल में नियाज़ ने उपन्यास के किरदारों और परिस्थितियों का बहुत बारीकी से पड़ताल कर अपने अनुभवों को कलमबद्ध किया है। बक़ौल अहमद तीन माह बाद उनका एक और उपन्यास छपकर आएगा। छत्तीसगढ़ से अंग्रेज़ी में स्नातकोत्तर अहमद के खानदान में तो लेखन की परंपरा नहीं रही लेकिन ख़ुद उन्हें छात्र जीवन से ही थॉमस हार्डी, चार्ल्स डिकन्स एवं जेन आस्टिन जैसे अंग्रेज़ी के आला लेखकों के उपन्यासों को पढ़ने का शौक रहा। कार्यक्रम का संयोजन लैंडमार्क बुक्स ने किया। **-सुमेर सिंह**

प्रतिभाओं का 'रसरंग'

कानपुर की लक्ष्मी देवी कला अकादमी द्वारा 'रसरंग' का आयोजन किया गया। आगाज़ बनारस घराने के प्रसिद्ध कलाकार रामकुमार मिश्र के एकल तबला वादन से हुआ। उन्होंने तीन ताल में अपने घराने की बंदिशें प्रस्तुत कीं। उसके बाद कानपुर की ही गायिका शालिनी त्रिपाठी ने अपने गायन का आरंभ राग मारू विहाग से किया। उन्होंने कुछ ग़ज़लें भी प्रस्तुत कीं। सागर (म.प्र.) की होनहार कथक नृत्यांगना शाम्भवी शुक्ला की कथक प्रस्तुति से सभा समाप्त हुई। उनकी नृत्य प्रस्तुति में भारतीय संस्कृति की समझ, नया सोच एवं स्वयं की विशिष्ट शैली नज़र आई। उन्होंने अपने नृत्य का आरंभ शिव स्तुति से किया और थाट में नायिका के खड़े होने के अंदाज प्रदर्शित किये। कुछ तिहाइयों और टुकड़ों को नृत्य में पिरोया। शाम्भवी ने स्वरचित पंच जातियों से बने पंचामृत तिहाई में पैर का कठिन काम दिखाया।

नाटकों के 'तीन रंग'

12 वर्षों से विश्व रंगमंच (27 मार्च) दिवस पर रंगआधार नाट्य समारोह के सफल आयोजन के बाद सितंबर माह में रंग आधार की नई श्रृंखला 'तीन रंग' ने दर्शकों के बीच खासा कौतूहल जगाया। 'तीन रंग' एक ऐसी श्रृंखला है जिसमें एक अभिनेता/अभिनेत्री के तीन नाटक अथवा एक रंग संगीतज्ञ के तीन नाटक शामिल किये जायें। इसका उद्देश्य रंग आंदोलन को गति देना और रंगमंच से नये दर्शक वर्ग को जोड़ना है। इससे पहले 'तीन रंग' की पहली एवं दूसरी कढ़ी में रंग निर्देशक 'हबीब तनवीर' और जबलपुर के रंगकर्मी बसंत काशीकर के नाटकों का मंचन किया गया तथा तीसरी कड़ी महिला निर्देशकों पर केन्द्रित थी। इसमें भोपाल की रंगकर्मी प्रीति झा, वरिष्ठ रंगकर्मी एवं निर्देशक स्वर्गीय विभा मिश्रा एवं उज्जैन से शारदा सिंह के नाटकों के मंचन को आमंत्रित किया गया।

समारोह की पहली प्रस्तुति 'ये आदमी ये चूहे' का कथानक दो प्रवासी मज़दूर लोरी तथा जग्गू के इर्द-गिर्द घूमता है। दोनों में जग्गू कम शक्तिशाली पर चालाक है, जबकि लोरी शक्तिशाली किन्तु मानसिक रूप से अस्वस्थ है और उसकी एक मानसिक विडंबना भी है, वह कोमल चीज़ों को छूना चाहता है। इस आदत की वजह से दोनों कई बार मुसीबत में भी पड़ते हैं। निर्देशक प्रीति के अनुसार-मज़दूर सारी उम्र घर इमारतें बनाते हैं, खून पसीना बहाते हैं। लेकिन उनका अपना कोई घर नहीं होता।

शायद होता हो पर सपनों में। जो कभी पूरे नहीं होते इंसान को साथ चाहिए, अपनी ज़िंदगी बेहतर बनाने के लिए और सपनों को पूरा करने के लिए। सपनों में जीते मजदूरों, आपस में जूझते दो दोस्तों की कहानी मुख्यतः मज़दूरों के जीवन संघर्ष और मानवीय संबंधों की उधेड़बुन रही। यह नाटक द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के मज़दूर संघर्ष पर आधारित था।

समारोह की दूसरी शाम हिन्दी साहित्य के उपन्यास सम्राट 'मुंशी प्रेमचंद' कृत 'गबन' की नाट्य प्रस्तुति थी, जिसका मंचन वरिष्ठ रंगकर्मी एवं निर्देशक स्वर्गीय विभा मिश्रा के निर्देशन में हुआ। मध्यमवर्गीय जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने वाला उपन्यास 'गबन' जीवन की विसंगतियों और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को उकेरता है। यह उपन्यास उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग तथा निम्नवर्ग के अन्तर्द्वन्द्वों में परस्पर उलझा हुआ है। प्रेमचन्द ने गबन में सामाजिक समस्याओं के साथ अलग-अलग किरदारों के मनोवैज्ञानिक पक्ष को बड़ी सहजता से उभारा है।

'गबन' नाटक सन् 2005 में विभा द्वारा निर्देशित किया गया था, जिसके विभिन्न शहरों में मंचन किये गये। ये दुख की बात थी कि सन् 2006 में विभा जी ने इस दुनिया को अलविदा कहा। इतने सालों बाद इस नाटक की प्रस्तुति तीन रंग में हुई। विभा जी के बिना इस नाटक को जस का तस खड़ा करना एक मुश्किल काम था। जिसे बालेन्द्र सिंह ने अपनी कोशिश से संभव बनाया। इसमें हर कदम पर उनका साथ दिया अखिलेश जैन ने। विभा जी द्वारा तैयार की गई डिजाइनिंग में छेड़-छाड़ किये बिना नाटक तैयार किया गया। समारोह की तीसरी एवं अंतिम शाम हिन्दी के कवि 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना' की लोकप्रिय कृति 'बकरी' का मंचन किया गया जिसका निर्देशन शारदा सिंह ने किया। बकरी की कथावस्तु तीन चोर एवं एक हवलदार के भ्रष्टाचार पर केन्द्रित थी। जो राजनीति और भ्रष्टाचार के नाम पर गरीब और अशिक्षित जनता को लूटते हैं।

बतौर शारदा आज के राजनैतिक उठा-पटक, सामाजिक उथल-पुथल, आर्थिक चरमराहट और सांस्कृतिक माफियागिरी के वातावरण में 'बकरी' की पृष्ठभूमि साँस ले रही है, जहाँ अंधकार है। इन्हीं स्याह स्थितियों को प्रकाशित करने के लिए नाटक में विभिन्न युक्तियों का इस्तेमाल हुआ है, जिससे व्यंग्य की धारा तीव्र होती है। **-एकता**

रंगभूमि पर रवींद्र

कविता के अछूते कोनों की तलाश

विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर की एक सौ पचासवीं जयंती के उपलक्ष्य में होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों की श्रृंखला में विगत दिनों उनकी चुनिंदा कविताओं का नाट्य मंचन किया गया। राष्ट्र प्रेम, आध्यात्मिकता, दर्शन, जीवन के राग रंग तथा हास्य के विविध भावों से भरी उनकी अठारह कविताओं को भोपाल के वरिष्ठ रंगनिर्देशक अलखनंदन ने उनके नाट्य समूह के साथ प्रस्तुत किया। काव्य रंग की इस प्रस्तुति की सबसे बड़ी विशेषता इसमें रवीन्द्र संगीत का प्रयोग न किया जाना रही। निर्देशक के अनुसार स्वयं रवीन्द्रनाथ बांग्ला लोकगीतों से बहुत प्रभावित थे उनके कई गीतों पर वे लोकसंगीत का स्पष्ट प्रभाव देखते थे। इसी वजह से इस प्रस्तुति में बांग्ला के लोक संगीत का कल्पनाशील प्रयोग हुआ। जो कविताओं के नए अर्थ खोलने में और दर्शकों तक कविता का भाव संप्रेषित करने में सफल रहा। प्रस्तुति में चुनी गई अठारह कविताएँ रवींद्रनाथ की ऐसी बिरली कविताएँ हैं जिनमें से अधिकांश चिर परिचित अथवा लोकप्रिय नहीं हैं। वस्तुतः रवींद्रनाथ का काव्य फलक बहुत विशाल था उनके संपूर्ण काव्य पर नज़र दौड़ाएँ तो जीवन के प्रत्येक हिस्से

में उनका काव्य हस्तक्षेप स्पष्ट होता है। उन पर आध्यात्मिक और संत कवि की छवि लाद दी गई है किन्तु वे एक संपूर्ण कवि हैं। उनकी इन्हीं कम प्रचलित या छुपे हुए आयामों को उजागर करती कविताएँ नृत्य और देह गतियों में जब भारत भवन के अंतरंग रंगमंच पर साकार हुईं तो दर्शक सम्मोहन से भरे हुए थे। कथक नृत्यांगना डॉ. विजया शर्मा की नृत्य संरचना ने काव्य मंचन को आकर्षक गति प्रदान की। मंच परिकल्पना कविताओं के प्रस्तुतीकरण के अनुकूल थी। कविताओं का क्रम कुछ ऐसा था कि कहानी का-सा आरोह व्यंजित होता था। इस सुव्यवस्थित अनुक्रम के कारण पूरी प्रस्तुति जीवन की एक ऐसी श्रृंखला बनाती है जो लय और ताल की लहरों पर सवार है।

प्रस्तुति में मुख्य भूमिकाएँ सर्वश्री अंशपायन सिन्हा, गौरव गुप्ता, हेमंत देवलेकर, बिशना चौहान, काकोली भट्टाचार्य, शिल्पा शुक्ला, हेमंत पंजाबी, पंकज पुरोहित, शेख साबिर, प्रमिला सिंह ने निभाईं। मंच परिकल्पना और निर्देशन अलखनंदन ने किया। प्रकाश परिकल्पना मनोज मिश्रा की थी तथा ध्वनि संचालन योगेश राजपूत ने किया।

अलखनंदन ने इससे पहले मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' और श्रीकांत वर्मा के 'मगध' संग्रह की कविताओं को सार्थक रंगभाषा दी थी और चूँकि वे स्वयं भी कवि हैं, इस आकर्षण से खिंचे आए दर्शकों में साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी, बुद्धिजीवी दर्शक भी शामिल थे। उनकी राय से 'काव्य रंग' एक लंबी शोधात्मक प्रक्रिया से उपजी संभावनाशील प्रस्तुति है। यह बात भी काबिलेग़ौर है कि महाकवि की कविताओं का विविध रूप नाट्य में अनूदित होकर मंच पर साकार हुआ फिर भी महाकवि की उदात्त वाणी, उनका धीर गंभीर भाव अभिनय के माध्यम से प्रकट होने में थोड़ी कसर शेष रही। इसमें कलाकारों की आंगिक और वाचिक गतियों में ऊर्जा की कमी दीख रही थी जिसे और पूर्वाभ्यासों के ज़रिए सुधारा जा सकता है।

कई बेहतर और यादगार नाटकों के निर्देशक अलखनंदन से यह उम्मीद की जा सकती है कि इसे और परिष्कृत तथा एक ऐसी रंगमंचीय प्रस्तुति बनाएंगे जो कविता और नाटक के फ़ासले को एक अदृश्य विलयन में बदलकर दर्शकों को एक अविस्मरणीय रंग आस्वाद दे सकेगी। दर्शकों के लिए यह प्रस्तुति रवीन्द्रनाथ की आवाज़ में ही, भारत तीर्थ, कविता को सुनने की एक दुर्लभ-दिव्य सौगात लिए थी।

उमरिया में बाल रंग शिविर

दो दिवसीय बाल रंग शिविर का आयोजन उमरिया (मध्यप्रदेश) में किया गया। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत व कला अकादमी द्वारा आयोजित इस शिविर का संयोजन युवा रंगकर्मी पंकज दुबे ने किया। इस शिविर में पाँच नाटक तैयार कर मंचित किए गए। जौन वा निभा वा, मोर नाम गुरू ते होई जा शुरू, यमराज का नमिंत्रण, अशोक का शस्त्र त्याग और पेशियों का पेड़ नाटक बच्चों द्वारा मंचित किए गए।

कौआ चला हंस की चाल

इप्टा भिलाई द्वारा विश्व रंगमंच दिवस के अवसर पर भिलाई के रंगकर्मियों को एकजुट करते हुए विभिन्न आयोजन किए गये। 'रंगमंच और रंगमंच विषय पर आयोजित नाट्यगोष्ठी में इप्टा रायपुर के साथी सुभाष मिश्र और तहलका छत्तीसगढ़ के प्रमुख संवाददाता राजकुमार सोनी ने अपने विचार रखे। इस अवसर पर आयोजित सम्मान समारोह में तेलगु नाटक के वरिष्ठ कलाकार एस.आर. पाणिग्रही तथा छत्तीसगढ़ी लोककलाकार निर्मल देवदास का सम्मान सुभाष मिश्रा, राजकुमार सोनी तथा वरिष्ठ साहित्यकार अशोक सिंघई ने किया। मणिमय मुकर्जी ने विश्व रंगमंच दिवस पर जारी संदेश का पाठ किया। वयम् संस्था के कलाकारों ने वीरसिंह के निर्देशन में बेले प्रस्तुत किया। अंत में भिलाई इप्टा के कलाकारों ने मणिमय मुखर्जी के निर्देशन में 'कौआ चला हंस की चाल' का मंचन किया गया। केन्द्रीय भूमिका राजेश श्रीवास्तव ने की और अन्य भूमिकाओं में सुचिता मुकर्जी, रुचि गोखले, नूपुर जैन, रोशन घड़ेलकर, सुमय मुखर्जी, मनोज जोशी, शैलेष कोडापे, श्याम वानखेड़े, जगन्नाथ साहू व मणिमय मुखर्जी।

गवाह

लेखन और रंगकर्म में समांतर रूप से सक्रिय संजय सहाय लिखित और निर्देशित प्रस्तुति 'गवाह' क़त्ल की जासूसी कहानी है। एक धनी औरत की हत्या कर दी गई है। पुलिस को मौका-ए-वारदात पर कुछ ऐसे सबूत हाथ लगे हैं जो मृतका के एक दोस्त को ही गुनहगार ठहरा रहे हैं। एक पड़ोसी और घर में काम करने वाली लड़की की गवाही भी पुलिस की राय की तसदीक कर रही है। लेकिन वहीं बचाव पक्ष का वकील साबित करता है कि पुलिस द्वारा बताई गई कहानी में कई ख़ामियाँ हैं। अगाथा क्रिस्टी की एक कहानी पर आधारित अपने आलेख में संजय स्थितियों में लगातार मोड़ लाते हैं।

मंच सज्जा में तीन दृश्य स्थितियों का उपयोग किया गया है। अदालत, मृतका मिस एमिली फ्रेंच का घर और वकील का दफ्तर। वकील, अभियुक्त और अभियुक्त की पत्नी के किरदार में हसरत पठान, काशिफ ख़ान और शाइस्ता ख़ान का अभिनय काफी अच्छा था। संजय सहाय ने अपने पात्रों और परिवेश को मूल कथा के अनुरूप विदेशी ही रहने दिया है। नाटक की प्रकाश योजना अलग से ध्यान खींचती है।

मुझे अमृता चाहिए

राजेश बब्बर के निर्देशन में दिल्ली में नाटक 'मुझे अमृता चाहिए' का मंचन किया गया। अमृता एक नाटक का चरित्र है। एक मज़बूत व्यक्तित्व वाली स्त्री। रंगकर्मियों को उसे निभाने वाली एक अभिनेत्री की तलाश है। विसंगति यह है कि जो लड़की उन्हें मिलती है, उसका निजी जीवन इस किरदार से बिल्कुल उलट है।

योगेश त्रिपाठी के लिखे इस नाटक के भीतर नाटक में चरित्र और पात्र की यह विपरीतता ही उसका नाटकीय तत्व है, जिसका विकास मध्यवर्गीय परिवार की विजया के सचमुच के अमृता रूपी सशक्तीकरण में होता है। रिटायर पिता, घरेलू कमाऊ भाभी और बेरोज़गार लेकिन लंबी हाँकने वाले भाई के आदेशों को पूरा करने में जुटी विजया घर की निःशुल्क कर्मचारी है। उसकी सेवाओं के बदले किसी मोटे आसामी से मोटे दहेज वाली शादी करके उसी सुखी बनाया जाएगा। लेकिन अपने अमृताकरण से विजया विरोध कर देती है। कि उसे इस किस्म की शादी न करके कुछ करके दिखाना है। वगैरह। नहीं कह सकते कि आज की दुनिया में विजया कोई पुराना किरदार है। एक दुनिया के भीतर कितनी दुनिया है जहाँ कितनी विजया मध्यवर्ग के पुराने ढाँचे में आज भी जूझ रही हैं। यह नाटक उसी संघर्ष का रूमान पेश करता है। इसे पुराने दिनों का एक सुखांत फैमिली ड्रामा भी कह सकते हैं। मंच सज्जा और परिधान में एक यथार्थपरक सादगी अच्छी लगती है। एक तख़्त और दो तीन स्टूल से घर बन जाता है और तख़्त हटा देने पर ये स्टूल रिहर्सल के दृश्य में काम आ जाते हैं।

परसाई की कहानियों का नाट्य प्रयोग

मध्यप्रदेश की रंगभूमि पर 'रंग संचार' की लगातार सक्रियता और सामाजिक सांस्कृतिक हस्तक्षेप ने लोकतांत्रिक चेतना की हिमायत करते हुए अपने समय की आहटों को समेटने का प्रयत्न किया है। इस बार आधुनिक हिन्दी व्यंग्य के पुरोधा, विलक्षण लेखक स्व. हरिशंकर परसाई की दो कथाओं 'तट की खोज' और 'भोलाराम का जीव' के मंचन के साथ ही इन कहानियों के नाट्य रूपांतरण और निर्देशक वरिष्ठ रंगकर्मी मांगीलाल शर्मा द्वारा लिखित नाटक 'अहलकार' का मंचन भी शामिल किया गया। ये प्रस्तुतियाँ हमारे समय, हमारे जन-जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, शोषण और अमानवीय प्रवृत्तियों पर गहरा कटाक्ष हैं।

'रंग संचार' के इस महत्वाकांक्षी प्रकल्प के साक्षी बनने उपन्यासकार मंज़ूर एहतेशाम, कवि-नाटककार राजेश जोशी सहित रंगप्रेमी दर्शक भारत भवन में एकत्र हुए। नाट्य प्रस्तुतियों में कलाकारों के कच्चे होमवर्क और अभ्यास की कमी को प्रेक्षकों ने निश्चय ही लक्ष्य किया लेकिन शौकिया रंगकर्मियों की सीमाओं तथा संसाधनों के सिमटे दायरों में रहकर मांगीलाल शर्मा ने जिस उत्साह और सामूहिक ऊर्जा का संचय किया वह ग़ौर करने के काबिल है। भोलाराम का जीव में पुराण-पात्रों के ज़रिये आधुनिक भ्रष्टाचार पर गहरा कटाक्ष है। रुचि सेन, आदित्य करतारिया, प्रखर सक्सेना, मनोज रावत, शिवांगी पवार, अभय दुबे, शैलेष इंगले प्रमुख भूमिकाओं में थे। परसाई की इस कहानी का नाट्य रूपांतरण, गीत लेखन और निर्देशन भी मांगीलाल शर्मा ने किया।

'अहलकार' में शोषण, धर्म, मंत्र-तंत्र की जकड़बंदी के शिकार गाँववासियों की व्यथा का मार्मिक चित्रण हुआ। यह सब शोषण की गर्त में जाने के कारण बनते हैं। वहीं शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, तकनीक और तरक्की के नाम पर छद्म रचने का व्यापार आज हम सब देखने भोगने को विवश हैं। इस नाट्य प्रयोग में खुद मांगीलाल और उनके दल के कलाकारों इमरान ख़ान, अभय दुबे, श्याम चौरसिया, फ़रहा, रुद्राक्ष, आदि ने बेहतर साझेदारी बनाई। रामबाबू का प्रकाश संयोजन और कमलेश तेलंग का संगीत प्रस्तुति को अपेक्षित प्रभाव देते रहे।

-एकता गोस्वामी

'नारायणपुर'

विनय दुबे का काव्य नाटक

'पराजय हो, पराजय हो, उसकी पराजय हो, जो गोली चलवाता है, जो दंगे करवाता है...' इस गीत के साथ स्वर्गीय विनय दुबे लिखित

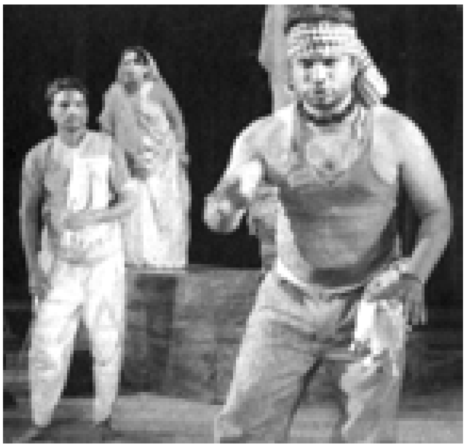

काव्य नाटक 'नारायणपुर' की प्रस्तुति भारत भवन (भोपाल) में हुई। इसमें नारायणपुर गाँव की कथा है, जहाँ का समाज अपनी दैहिक एवं भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए गाँव वालों का शोषण करता है। इंकार करने पर खड़ी फसल में आग, मारपीट, ख़ूनख़राबा और अन्य तरह से उनका शोषण किया जाता था। गाँव में शोषित लोगों में एक विद्रोह की चिंगारी उठी तो उपद्रवियों को मिलता है अत्याचार का प्रतिफल। समाज के शोषित लोगों में एक को अपना प्रतिनिधि चुन लेते हैं और सत्ता का स्वाद चखते ही वह भी अपने ही लोगों के शोषण में लिप्त हो जाता है।

इस नाटक में आदमी 1, आदमी 2, बूढ़ा, नेता, ठाकुर, लठैत ने अपना किरदार बखूबी नभिाया। इसमें किसी कैरेक्टर का नाम नहीं दिया गया। नाटक किसी एक गांव की नहीं पूरे देश की कथा है। यह नाटक जिस रूप में आरंभ होता है उसी रूप में समाप्त होता है। 'ये कैसी चिंगारी है, ये कैसी चिंगारी, जो जला रही अपनी धरती, घर अपना ही जला रही' इस गीत के साथ नाटक का समापन हुआ। संगीत सुरेंद्र वानखेड़े एवं प्रकाश परिकल्पना कमल जैन की है।

सामंती प्रवृत्ति-आपराधिक छवि की जुगलबंदी : 'नारायणपुर' के निर्देशक नीति श्रीवास्तव और हर्ष दौण्ड के अनुसार जब उन लोगों ने पहली बार यह काव्य नाटक पढ़ा तो लगा कि किसी जाति विशेष पर आधारित है। जो नुक्कड़ नाटक की शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है। बंसी कौल के आग्रह पर जब हम लोगों ने दो-तीन बार पढ़ा तो लगा कि यह किसी जाति विशेष का नहीं बल्कि यह समस्या तो पूरे विश्व की है। समाज का हर हिस्सा किसी न किसी रूप में अत्याचारों से पीड़ित है। अब शोषण केवल दैहिक, आर्थिक और जातीय स्तर पर ही नहीं, बल्कि राजनैतिक, व्यापारिक, शैक्षणिक एवं बौद्धिक स्तर पर भी होने लगा है। इससे जन सामान्य क्षुब्ध और व्यथित है। शोषित वर्ग विद्रोह करने का प्रयास तो करता है पर शोषक अपनी धूर्तता का प्रयोग करके शोषित लोगों में से ही एक नए शोषक को जन्म दे देता है और उस प्रतिनिधि के साथ मलि कर फिर उनके शोषण और दोहन में व्यस्त हो जाता है।

नाटक में ऐसे ही सामंती प्रवृत्ति और आपराधिक छवि के नेता का गठजोड़ है, जो दरिद्र लोगों को संक्रमित कर उन्हीं में अपना प्रतिनिधि तैयार कर उनका सांस्कृतिक एवं नैतिक कर उनका सांस्कृतिक एवं नैतिक वध कराते नजर आते हैं।

नरेन्द्र जैन का रचना पाठ

नरेंद्र जैन की रचनाओं में स्थानिकता, जीवन बोध और मार्मिकता का अनूठा समन्वय है। उन्होंने सबके लिए कविताएँ लिखी हैं जिनमें मानवीय सरोकार और आम आदमी की बात है। डॉ. विजय बहादुर सिंह ने विदिशा के सुविख्यात रचनाकार नरेंद्र जैन के व्यक्तित्व पर चर्चा करते हुए ये उद्‌गार व्यक्त किए। स्वराज भवन (भोपाल) में स्पंदन संस्थान द्वारा आयोजित रचना पाठ के इस आयोजन में नरेंद्र जैन ने अपनी चुनी हुई २५ कविताओं का पाठ किया। इनमें से धर्मशाला, म्यूजियम में शेर, कबाड़, मेरी रचना प्रक्रिया आदि शीर्षक कविताएँ अनिल के रचना संसार के पहलू खोलती रहीं। उन्होंने अंग्रेजी में लिखी अपनी एक कविता का हिन्दी अनुवाद भी सुनाया। इस मौके पर 'रचना समय' पत्रिका के नए अंक का लोकार्पण भी किया गया। यह अंक वरिष्ठ रचनाकार राजेश जोशी के लिखे नाटक पर आधारित है।

बच्चों की कविताएँ

बाल साहित्य में वह शक्ति है जो बच्चों की जिंदगी बदल सकता है। बाल साहित्य का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन है लेकिन अधिकांश बाल साहित्यकार अपनी रचनाओं में बच्चों को नैतिक शिक्षा देने का प्रयास करते हैं। यह बात वरिष्ठ बाल साहित्यकार डॉ. परशुराम शुक्ल ने कही। वे मध्यप्रदेश लेखक संघ द्वारा हिन्दी भवन में आयोजित प्रादेशक बाल साहित्य गोष्ठी में मुख्य अतिथि के रूप में संबोधित कर रहे थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे साहित्यकार बटुक चतुर्वेदी ने भी बच्चों की कविताएँ सुनाईं। इस मौके पर दतिया से आए डॉ. राज गोस्वामी ने अपनी रचना 'समाचार पढ़ते हैं पापा बैठे-बैठे द्वार हम जगते हैं उसके पहले आ जाता अखबार' सुनाई। भोपाल की मालती वसंत ने कविता 'आसमान के तारे लगते सबको प्यारे' सुनाकर दाद बटोरी। कुकुंम गुप्ता की कविता 'पापा मेरे मन में यह विचार क्यों आता है' और आशा शर्मा की रचना 'चिड़िया ओ चिड़िया' को भी सराहना मिली। प्रीति प्रवीण खरे ने कविता जिंगल 'छुट्टी और कहानी छुट्टी' का सदुपयोग सुनाई।

अश्क की याद

प्रयोग, प्रवृत्ति और रूपाकारों की बहुरंगी साहित्यिक दुनिया बसाने वाले 'शताब्दी पुरुषों' के जीवन और सृजन को नए सिरे से देखने-परखने की कड़ी में इस दफा भारत भवन ने उपेन्द्रनाथ अश्क की याद फरमाई।

कथा, उपन्यास, कविता, एकांकी, निबंध, संस्मरण और यात्रा वृत्तांत जैसी कई विधाओं में एक साथ कलम आजमाने वाले अश्क को लेकर आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह और उमेश दवे ने बहुत से पोशीदा पहलुओं को खंगाला। सिंह ने कहा कि अश्क हमारे आज के

पॉलिटिकल लेखकों और कवियों की तरह नहीं थे जिनका भरोसा एक मूल्यधर्मी शब्द से कहीं अधिक राजनीतिक शब्दों में हो चला है। दवे ने उनके लेखकीय स्वाभिमान को याद करते हुए अश्क के मनमौजी, हँसोड़ और फक्कड़पन को रेखांकित किया। इस आत्मीय प्रसंग में खासतौर पर शरीक हुए अश्क जी के बेटे और बहुमुखी रचनाकार नीलाभ ने अपने पिता की उन स्मृतियों को साझा किया जिनमें एक लेखक के मानवीय सरोकारों और संवेदना के अक्स नुमाया हुए।

अश्क की बहुआयामी शख़्सियत की याद दिलाते हुए नीलाभ ने कुछ तल्ख़ी के साथ जोड़ा कि हिन्दी की आलोचना भी वर्णभेद की शिकार है और लेखक को मापने के लिए कुछ विधाएँ तयशुदा कर ली गई हैं। शाम का सत्र कथा पाठ पर एकाग्र था। हरिओम, वंदना राग, चंदन पाण्डे और गीत चतुर्वेदी ने विषय, विचार और शिल्प के नए तेवरों से सजी अपनी रचनाएँ सुनाई। लेकिन एक साहित्यिक पुरखे के इस श्रद्धास्पद प्रसंग के साक्षी बनने साहित्य प्रेमियों की तो छोड़िए, लेखकों की छावनी माने जाने वाले भोपाल के मुट्ठी भर नुमाइंदे भी भारत भवन की चौहद्दी में दाखिल नहीं हुए।

मौसम-ए-गुलज़ार

इससे पहले कि दीये की रौशनी उम्मीदों की नई उजास बिखेरती, बच्चों की भोली हसरतों, ज़िदों और सपनों को दुलारती एक दस्तक ने त्यौहार के मौसम को 'गुलज़ार' कर दिया।

चहक-महक के इस आलम में अपनी तमाम मसरूफ़ियत को तौबा कर फिल्मकार-कवि गुलज़ार की शिरकत किसी फ़रिश्ते से कम नहीं थी। 'जश्ने-बचपन' का यह नायाब मौका जुटाया स्वयं सेवी संस्थान 'एकलव्य' ने। 20-21 और 22 अक्टूबर की तारीखें यकीनन सिमटते बचपन की चिंताओं और उनके हकों को लौटाने की कसमों के नाम रही। एकलव्य की ही बाल विज्ञान पत्रिका 'चकमक' की तीन सौवें अंक का लोकार्पण, बालसाहित्य की चुनौतियों पर परिसंवाद, काव्य पाठ, मुखौटा कार्यशाला और 'चरणदास चोर' का मंचन इस जश्न की तयशुदा गतिविधियाँ थीं, लेकिन 21 अक्टूबर की सुबह के वे लम्हें और भी हँसी हो उठे जब गुलज़ार ने विकलांग बच्चों के बीच पहुंचकर उनकी मासूम मुस्कुराहटों में अपनी खुशियों के रंग भी साझा किए। इन्हीं बच्चों के लिए एक मुद्दत से काम कर रही संस्था 'आरुषि' के लिए ख़ुद गुलज़ार द्वारा तैयार कॉफी टेबल बुक 'एक प्रार्थना' का विमोचन भी हुआ। दिलचस्प पहलू ये कि प्रार्थना एक नेत्रहीन बच्ची का नाम है, गुलज़ार जिस पर बहुत प्यार लुटाते हैं। छोटी कहानियों और कुछ चित्रों की संगत में इस किताब के पन्ने पलटना एक रुहानी अहसास है। उधर भारत भवन के गलियारों में गुलज़ार के साथ प्रयास शुक्ल, नरेश सक्सेना, अशोक भौमिक, दिलीप चिंचालकर, असगर वजाहत, मंज़ूर एहतेशाम, उदयन वाजपेयी और चकमक के संपादक सुशील शुक्ला सहित अनेक रचनाधर्मियों ने भी शिरकत कर बच्चों की दुनिया से जुड़े अहम सवालों को खंगाला।

एक शाम गुलज़ार ने कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर की उन कविताओं का अनुवाद-पाठ किया जिनमें बाल-मन की कल्पनाओं का जादुई सम्मोहन समाया था। ये वे रचनाएँ थीं जिन्हें टैगोर ने बहुत कम उम्र में लिखा था। इस सत्र में प्रयाग शुक्ल ने बच्चों के साथ अपनी लोकप्रिय बाल कविताओं को दोहराया। कविता की इस पाठशाला के सैकड़ों बच्चों का हुजूम उमड़ा। उधर गुलज़ार ने बाल साहित्य पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि लेखक, बाल साहित्य पर लिखना ही नहीं चाहते। वजह यह है कि बाल साहित्य लिखने के लिए एक बच्चे का बचपन ही नहीं बल्कि बहुत से बच्चों के बचपनों को जीना पड़ता है। उन्होंने कहा कि जब तक आप बच्चों के साथ घुलेंगे-मिलेंगे नहीं, तब तक आप उन पर कैसे लिखेंगे। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है उसकी ज़ुबान बदलती जाती है, जो समझने में भी मुश्किल होता है। हमें उनकी ज़ुबान भी सीखनी होगी। गुलज़ार के सुर में सुर मिलाने और कई लेखक, मनोवैज्ञानिक और आलोचक शामिल हुए। बेशक एकलव्य का यह आयोजन बच्चों की दुनिया से बावस्ता होने और एक ज़रूरी विमर्श को आगे बढ़ाने की पुरज़ोर संभावना कहा जा सकता है।

गुलज़ार और 'रंग संवाद'

गत दिनों सुप्रसिद्ध फिल्म गीतकार, निर्माता, कवि, कथाकार गुलज़ार भोपाल के प्रवास पर रहे। इस दौरान कलाघर भारत भवन में आईसेक्ट के उपक्रम वनमाली सृजन पीठ के संयोजक और 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय ने गुलज़ार से पत्रिका (रंग संवाद) के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की। श्री गुलज़ार ने बताया कि रंग-संवाद उन्हें नियमित मिलती रही है और वे बड़ी रुचि से इसे पढ़ते हैं। पत्रिका के प्रधान संपादक श्री संतोष चौबे हैं। इस अवसर पर आईसेक्ट की ओर से 'इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए' के संपादन सहयोगी रवींद्र जैन तथा मोहन सगोरिया ने उन्हें आईसेक्ट स्टुडियो के विषय में विस्तार से बताया। स्टुडियो द्वारा निर्मित कविता यात्रा, फुहार, बृज की होलियाँ तथा भजनों की सीडी के विषय में जानकर गुलज़ार ने इसे अनुपम और अनूठा काम बताया।

स्कोप कॉलेज में गूँजी

मोहनवीणा

विश्व प्रसिद्ध संगीतकार पद्मश्री पंडित विश्वमोहन भट्ट ने भोपाल के स्कोप कॉलेज के विद्यार्थियों तथा शिक्षकगण के साथ एक शाम गुजारी। भोपाल पधारे पंडित विश्वमोहन भट्ट ने मोहन वीणा के तारों पर राग यमन के स्वर छेड़ते हुये माहौल को अनूठी चेतना प्रदान की। तबले पर बनारस घराने के होनहार युवा कलाकार पृथ्वीराज मिश्रा ने संगत की।

इस अवसर पर कॉलेज के चेयरमेन और आईसेक्ट के महानिदेशक संतोष चौबे ने पंडित विश्वमोहन भट्ट को शॉल, श्रीफल तथा स्मृति चिन्ह प्रदान कर उनका अभिनंदन किया। सभा का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया। कार्यक्रम में स्कोप के निदेशक अमिताभ सक्सेना, प्राचार्य डी.एस. राघव, आईसेक्ट के कुलपति वी.के. वर्मा तथा कालेज के शिक्षक व छात्र-छात्राएँ उपस्थित थे। पंडित विश्वमोहन भट्ट ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को शाश्वत संगीत बताते हुए युवा पीढ़ी को शास्त्रीय संगीत के प्रति प्रेरित किया। उन्होंने शास्त्रीय संगीत की बारीकी से व्याख्या की तथा एक से लेकर सोलह मात्रा और ताल पर राग छेड़ा। उन्होंने राग यमन का कल्पनाशील विस्तार किया और तबले की जुगलबंदी के साथ खूबसूरत आयाम पर इस संगीत सभा को पहुँचाया।

सूबे की 'सालगिरह' का जश्न

कलात्मक अभिव्यक्ति के नायाब नज़ारों में अगर किसी सूबे की आकांक्षाओं और उपलब्धियों के अक्स भी नुमायां हो, तो इस दिलचस्प संयोग पर 'वाह' कहने में भला किसे गुरेज़ हो सकता है? मध्यप्रदेश के नवनिर्माण के साथ जुड़ी एक नवंबर की तारीख एक ऐसे ही अनूठे उत्सव की लहक-महक का गवाह बनी। झीलों, शैल-शिखरों की नगरी भोपाल के लालपरेड मैदान में उमड़े जन सैलाब ने इस जश्न पर मोहर लगाई तो मौके पर मौजूद सियासतदारों की भी बाँछें बेशक खिल उठीं।

राज्य के संस्कृति महकमे के संयोजन में रचे इस जलसे की सुरमई साँझ को मीठे-मादक कंठ की धनी पार्श्व गायिका आशा भोसले ने अपने नग़मों से गुलज़ार किया तो स्वप्न सुंदरी हेमा मालिनी 'दुर्गा' का अवतार लिए देह-गतियों और भाव भंगिमाओं का रसायन तैयार करती रहीं। इस बीच एक और अहम पहलू जुड़ा 'शुभ्रा' का। प्रदेश सरकार द्वारा विशेष रूप से चलाए जा रहे 'बेटी बचाओ' मिशन पर आधारित संगीत, नृत्य और अभिनय के इस रूपक को करीब आठ सौ कलाकारों ने सजीव किया। नदी और नारी की समान स्थिति इसका विषय बनी। मध्यप्रदेश की जीवन रेखा शिव-पुत्री नर्मदा तथा इसके कूल-किनारों पर फली-फूली परंपरा और संस्कृति को समय के साथ बहुत दूर तक ले जाती रानी दुर्गावती, लक्ष्मी बाई, देवी अहिल्या, शाहजहाँ और रूपमती जैसी जांबाज नायिकाओं का ज़िक्र बेटियों की अहमियत का यह सुन्दर दस्तावेज़ बन पड़ा। कोरियोग्राफर और नृत्यांगना मैत्रेयी पहाड़ी, संगीतकार जोड़ी श्रुति-धर्मेश, लेखक पुनीत वर्मा और सैकड़ों जनजातीय लोक तथा शास्त्रीय नर्तकों की आपसदारी एक अर्थ में हृदय प्रदेश की सांस्कृतिक धड़कन साबित हुई। 'बेटी है, तो कल है' के सूत्र पर समर्थन जताते लेजर शोज 'अनन्या' और आसमान को सतरंगी बनाती करिश्माई आतिशबाजी के तड़के ने भी जलसे के ज़ायके में इज़ाफा किया।

लेकिन दर्शक दीर्घा में ठीक जगह पाने की गरज लिए शाम ढले सपरिवार घर से निकल पड़े कला प्रेमियों को सांस्कृतिक प्रस्तुतियों से पहले लम्बे भाषणों का सत्र जरा भारी पड़ गया। फिर एक ही तश्तरी में ढेर सारे पकवान परोस देने की सांस्कृतिक ज़िद का फंडा भी लोगों की समझ से परे था। देर रात मंच पर नमूदार हुई आशा ताई भी चुटकी लेने से रोक न सकीं- ''आपके सोने का वक्त हो चला है, फिर भी मैं आपको संगीत की ओर लिए चलती हूं''। बहरहाल संस्कृति और जनसंपर्क की बागडोर थामने वाले शिवराज मंत्री मंडल के वरिष्ठ साथी लक्ष्मीकांत शर्मा और उनके अमले ने 'स्थापना दिवस' पर सरकार का जो जलवा खींचा वह सूबे की सांस्कृतिक इच्छाशक्ति और कुव्वत का नमूना है। लेकिन सितारों जड़े इस जश्न से प्रतिपक्ष ने बाकायदा दूरियाँ बनाए रखीं।

नारी के रंग

विगत दिनों भोपाल स्थित भारत भवन के अंतरंग सभागार में **रंगआधार** और **वनमाली सृजन पीठ** के संयुक्त तत्वावधान में 'तीन रंग' की तीसरी कड़ी के रूप में तीन दिवसीय नाट्य समारोह आयोजित किया गया। उक्त नाट्य समारोह की प्रमुख विशेषता इसका महिला निर्देशकों पर केंद्रित होना रहा। 15 से 17 सितम्बर तक आयोजित समारोह में क्रमशः प्रीति झा भोपाल के निर्देशन में द रायजिंग सोसायटी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर से बैनर तले 'ये आदमी ये चूहे' का मंचन समारोह के प्रथम दिन किया गया। दूसरी शाम स्वर्गीय विभा मिश्रा भोपाल के निर्देशन में हम थियेटर ग्रुप द्वारा 'गबन' और समारोह की अंतिम शाम शारदा सिंह के निर्देशन में उज्जैन के अभिनव रंग मण्डल द्वारा 'बकरी' नाटक खेला गया।

रंगकर्म के क्षेत्र में महिला कलाकारों की उपस्थिति भले ही एक सीमितता लिए हुए हो, लेकिन जब-तब वो अपनी संवेदनात्मक और वैचारिक दृष्टि थामे संप्रेषण के इस सशक्त माध्यम का प्रयोग अपने संवेगों के प्रवाह के लिए करती रही हैं। नाटक और नारी के संबंध को रेखांकित करते हुए जयदेव तनेजा लिखते हैं कि, 'आधुनिक रंगकर्म में स्त्री की भूमिका और पहचान का सवाल देखें तो यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि स्त्री ने स्वयं नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, पार्श्वकर्मा और समीक्षक-दर्शक बनकर रंगकर्म के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी अलग जगह और प्रतिष्ठा हासिल की है। संवेदना, वैचारिकता और रूप-गुणात्मक अंतर को साफ तौर पर देखा जा सकता है।' सम्पन्न उक्त समारोह इसी मायने में महत्वपूर्ण रहा कि भोपाल के रंग रसिकों को तीन दिन तक महिला निर्देशकों की कल्पनाशीलता, संवेदनात्मक पक्ष, राजनीतिक सोच और विभिन्न भूमिकाओं में रंगपटल पर महिलाओं की भागीदारी से रूबरू होने का मौका मिला।

आयोजन की प्रथम शाम प्रीति झा के निर्देशन में खेला गया नाटक जॉन स्टीनबेक लिखित एक अमेरिकन नाटक रहा, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के मज़दूर संघर्ष पर आधारित है। नाटक का अनुवाद देवेन्द्रराज अंकुर और वीरेन्द्र सक्सेना ने किया है। नाटक मूल रूप से मानवीय संबंधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। नाटक का कथ्य दो प्रवासी मज़दूर लौरी और जग्गू के आसपास ही घूमता है। दोनों में से जग्गू कम शक्तिशाली लेकिन चालाक है, जबकि लौरी शक्तिशाली तो है लेकिन मानसिक रूप से अस्वस्थ है। उसकी मानसिक विडम्बना यह है कि वो कोमल चीज़ों को छूना चाहता है और उसकी यही आदत उन्हें कई बार मुसीबतों में डालती है। नाटक के प्रमुख पात्र जग्गू और लौरी के रूप में क्रमशः तानाजीराव और पंकज पुरोहित रहे। तानाजीराव निर्विवाद रूप से भोपाल के रंगमंचीय पटल पर युवा रंगकर्मियों में सबसे सशक्त अभिनेता है। पंकज की कोशिश बेहतरीन है, लेकिन कैरेक्टर को पोर्ट्रेट करने में डेप्थ का अभाव है। खेमू के किरदार को निभाने में तारिक दाद ख़ान काफी हद तक सफल रहे। तारिक का अपना स्टाइल है और उनकी टाइमिंग भी कमाल की है, हालांकि कहीं-कहीं वो अपने किरदार से बाहर जाते नजर आते हैं। किरदार के मुक़ाबले निर्देशक और शायद निर्देशक के मुक़ाबले इसे स्वयं छूट लेने के रूप में परिभाषित करना अधिक मुनासिब होगा। नाटक अपने कुछ छोटे किरदारों में विशेषता समेटे है जैसे मालिक के किरदार में शुभांकर दीक्षित संभावनाओं से भरे हैं। कैलाश के रूप में मनीष ख़ासे आकर्षित करते हैं। हीरा के किरदार में निर्मल तिवारी कुछ अलग ही रंग में नज़र आए। इस बीच निर्देशक की तमाम कोशिशों के बीच मानवीय हरकतों के वैज्ञानिक विश्लेषण और संवेदना के उभार में कहीं कोई कसर छूटती दीखती है। नौकरों का मालिक के बेटे की बीवी के प्रति रूखा व्यवहार और शब्द एक किस्म की असहजता प्रकट करते हैं। वहीं दूसरी ओर कुछ महत्वपूर्ण संवादों को अभिनेताओं द्वारा हल्के में निकाल दिया जाता है। कुछ खामियां जो प्रदर्शन में रहीं या तो वो निर्देशक की हो सकती हैं या फिर किसी कृति के अनुवाद स्वरूप होने वाली दिक्कतों का स्वरूप। नाटक का दशक अस्सी का है जिसे दर्शाने में पहनावे के स्तर पर कोर-कसर दीखती है। मॉरिस लॉजरस की संगीत परिकल्पना और रामबाबू का आलोकन नाटक अनुरूप रहा।

समारोह की दूसरी शाम स्वर्गीय विभा मिश्रा के निर्देशन में प्रेमचन्द्र लिखित 'गबन' का मंचन हुआ। इसकी नाट्य रूपांतरण दिनेश राय दीनू ने किया है। मध्यमवर्गीय जीवन के यथार्थ को दर्शाती उक्त कृति के पुनर्नाट्य संयोजन की जिम्मेदारी बालेन्द्र सिंह ने अपनी संपूर्ण क्षमता के साथ निभाई। बालू ने इस मुश्किल काम को जिस खूबसूरती के साथ निभाया उसके लिए निःसंदेह वे बधाई के पात्र हैं। 'गबन' को दोबारा पांच साल बाद बिना विभा जी के देखना राजधानी के रंग रसिकों के लिए स्मृतियों में ले जाना वाला रहा।

समारोह की सम्पन्न बेला में दर्शकों के सामने थी अभिनव रंग मंडल उज्जैन की प्रस्तुति 'बकरी'। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना रचित कृति और शारदा सिंह निर्देशित यह नाटक वर्तमान राजनैतिक परिवेश, संस्कृति के माफियाओं और दर्द से कराहती जनता की झटपटाहट को बयाँ करती नज़र आयी। शारदा सिंह के निर्देशन में अभिनय के स्तर को लेकर एक किस्म की मुखरता नजर आती है। **-अरविंद तिवारी**

वंचितों की लेखिका इंदिरा का महाप्रयाण

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित लेखिका और शांति वार्ताकार इंदिरा गोस्वामी का लंबी बीमारी के बाद निधन हो गया। वह 69 वर्ष की थीं। डॉ. गोस्वामी सामाजिक विषयों पर लिखती रही थीं। उन्हें ज्ञानपीठ और साहित्य अकादमी पुरस्कारों से सम्मानित किया गया था। उन्हें यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (उल्फा उग्रवादियों) व सरकार के बीच शांतिवार्ता के प्रयासों के लिए भी जाना जाता है। असम में तीन दशक लंबे विद्रोह की छाया के बीच साहित्यकार इंदिरा आर. गोस्वामी ने न सिर्फ हिंसा के मुद्दे को उठाने के लिए अपनी कलम को उठाया, बल्कि प्रतिबंधित उल्फा को बातचीत की

मेज पर लाने की पहल भी की। ममोनी रेसोम गोस्वामी के उपनाम से लिखना पसंद करने वाली इंदिरा ने कई उपन्यास, लघुकथा संग्रह और अध्ययनशील लेख लिखे, जिनमें विभिन्न पृष्ठभूमियों के लोगों का दर्द झलकता है। इंदिरा गोस्वामी जब अध्ययन कर रही थीं, तभी 1962 में लघु कथाओं का अपना पहला संग्रह 'चिनाकी मोरोम' प्रकाशित किया। हालांकि लेखनी के शुभारंभ में उन्हें कई पारिवारिक परेशानियों का सामना करना पड़ा, लेकिन समाज के प्रति निष्ठा और सामाजिक शोषण के मुद्दों को आवाज़ देने से उनकी लेखनी पाठकों के दिलों में घर करती चली गई। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'नीलकंठ ब्रज' में विधवाओं का मुद्दा उठाया है।

दुष्यन्त कुमार अलंकरण मृणाल पाण्डेय को

दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय (भोपाल) द्वारा प्रतिवर्ष दिया जाने वाला 'दुष्यन्त कुमार अलंकरण' इस वर्ष हिन्दी की स्थापित साहित्यकार एवं पत्रकार मृणाल पाण्डेय को दिया जायेगा। दुष्यन्त कुमार की पुण्यतिथि एवं संग्रहालय के स्थापना दिवस के अवसर पर भारत भवन में 30 दिसम्बर 2011 को मृणाल अलंकरण से विभूषित होंगी। समारोह के मुख्य अतिथि प्रसिद्ध आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी होंगे। संग्रहालय निदेशक राजुरकर राज ने बताया कि इस वर्ष का आंचलिक रचनाकार सम्मान सीधी (मध्यप्रदेश) निवासी शिवशंकर मिश्र 'सरस' को प्रदान किया जायेगा। वे हिन्दी और बघेली में समान रूप से लेखन कार्य कर रहे हैं।

विष्णु खरे को परिवार पुरस्कार

कला, संस्कृति और साहित्य की संस्था 'परिवार' (मुंबई) द्वारा काव्य साहित्य में रचनात्मक योगदान के लिए कवि विष्णु खरे का चयन किया गया है। खरे को अगले साल छह जनवरी को आयोजित समारोह में मराठी के सुपरिचित कवि चंद्रकांत पाटील सम्मानित करेंगे। पुरस्कार स्वरूप उन्हें एक लाख रुपए की राशि, शाल, रजत श्रीफल और स्मृति चिह्न भेंट किया जाएगा।

नागर का सम्मान

गत दिनों अमृतसर में पंजाब साहित्य अकादमी, पंजाबी लघुकथा 'मिन्नी' पिंगलवाड़ा सोसायटी के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित बीसवें अंतर्राज्यीय लघुकथा सम्मेलन के अवसर पर कथाकार सूर्यकांत नागर को माता शरबतीदेवी स्मृति सम्मान से अलंकृत किया गया। उन्हें यह सम्मान डॉ. 'अनूपसिंह, उपाध्यक्ष पंजाब साहित्य अकादमी, गुरुभजनसिंह गिल, विक्रमजीत नूर और वरिष्ठ लघुकथाकार सुभाष नीरव, (दिल्ली) द्वारा प्रदान किया गया। इंदौर (मध्यप्रदेश) निवासी श्री नागर लगभग पाँच दशकों से साहित्य और पत्रकारिता में समान रूप से सक्रिय हैं। पूर्व में कई संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया है।

बादलों की छाया-कविता 'घननाद'

''आभा भारती को बादलों से प्यार है, आत्मीयता है, प्रदर्शित छाया-चित्रों को देखकर मुझे कालिदास के मेघदूत याद आते हैं। ये चित्र कल्पनाशीलता के अद्‌भुत नमूने हैं।'' जबलपुर की रानीदुर्गावती कला वीथिका में 'पहल' और 'मिलन फोटोग्राफिक सोसाइटी (मिफोसो)' द्वारा आयोजित प्रदर्शनी 'घननाद' को देखकर कलानुरागी लेखक अमृत लाल वेगड़ ने यह उद्‌गार व्यक्त किया। इन चित्रों की छायाकार दमोह निवासी आभा भारती ने अपने चित्रों के संबंध में कहा कि 'एक आश्वासन - विश्वास की नींव को कितनी गहराई से सींचकर मज़बूती की मिसाल बन सकता है, यह प्रदर्शनी उसी का नतीजा है। उद्‌घाटन कार्यक्रम का संचालन पंकज स्वामी ने किया तथा आभार प्रदर्शन छायाकार मुकुल यादव द्वारा किया गया। इस अवसर पर जबलपुर, दमोह सहित आसपास के क्षेत्र से अनेक कलाकार, साहित्यकार और कला के अन्य अनुशासनों से जुड़े तथा रुचि रखने वाले लोगों ने भाग लिया और छायाचित्रों को व्यापक प्रशंसा प्राप्त हुई। 'घननाद' की इस प्रदर्शनी में कश्मीर से कन्याकुमारी तक के 43 चित्रों को प्रदर्शित किया गया है।

दूसरे दिन 30 अक्टूबर को सुरेन्द्र राजन ने अपने उद्‌बोधन में कहा- ''बादलों के आकार, रंग और रूप बदलते रहते हैं, उनमें गति होती है। उनके माध्यम से हम जो भी चाहें देख सकते हैं, उनसे हमारी भावनाएँ जुड़ती जाती हैं, उनमें दुहराव नहीं होता। प्रकृति की प्रभुता के दर्शन हम बादलों में कर सकते हैं। आभा जी ने प्रकृति से जुड़कर यह साधना की है। ये छाया चित्र व्यक्ति को कला की ओर प्रेरित करते हैं तथा मन को सहजता और सरलता प्रदान करते हैं।

छायाकार बसंत मिश्र ने कहा कि आभा जी का काम कुछ मायनों में सबसे अलग नये लोगों के लिये तो यह प्रदर्शन 'क्लास-रूम' की तरह है। चित्र सुरेश श्रीवास्तव ने बादलों को अमूल्य विषय बताते हुए कहा कि ये संदेश भी देते हैं। फोटो-कला की पहचान इससे होती है कि दृश्य को किस फ्रेम में कैद किया गया है। जैविक अवशेषों से अपनी पेंटिंग्स तैयार करने वाले कलाकार बसंत सोनी ने कहा कि सभी चित्रों में किसी न किसी तरह आकृति है जो हमारी भावनाओं से जुड़कर उन्हें उद्वेलित करती है। ज्ञानरंजन के अनुसार - ''आभा भारती ने कैमरे की आँख से बादलों की खोज की है और उन्हें फंतासी में बदल दिया है। बादल, बादल भी है, पेंटिंग्स भी है और कविता भी। **-मनोहर बिल्लोरे**

मनोज कुमार को 'पत्रकार शिरोमणि' सम्मान

पत्रकार और मीडिया केन्द्रित पत्रिका 'समगम' (भोपाल) के संपादक मनोज कुमार को उज्जैन में आयोजित एक समारोह में पत्रकार शिरोमणि सम्मान प्रदान किया गया। विक्रमशीला हिन्दी विद्यापीठ, गांधीनगर बिहार ने उन्हें इस अलंकरण के लिए चुना है।

मनोज कुमार मध्यप्रदेश शासन के आदिमजाति कल्याण विभाग के उपक्रम वन्या की मासिक पत्रिका 'समझ झरोखा' के मानसेवी सम्पादक एवं वन्या के ही फीचर सेवा वन्या संदर्भ के संयोजक का दायित्व भी सम्हाल चुके हैं। उन्होंने कई पुस्तकों के लेखन में भी अपना योगदान किया है। वे वन्या संदर्भ फीचर एजेंसी में भी अपनी सेवाएँ दे चुके हैं। 'समागम' के जरिए उन्होंने मौजूदा दौर के अनेक ज्वलंत मुद्दों पर मीडिया की दृष्टि और उससे जुड़े शोध को एक जरूरी मंच प्रदान किया है।

‘स्पंदन’ का

अलंकरण प्रसंग

साहित्य तथा ललित कलाओं के लिए समर्पित संस्था ‘स्पंदन’ ने विभिन्न विधाओं में सक्रिय श्रेष्ठ रचनाधर्मियों को स्थापित सम्मानों से विभूषित किया पुरस्कारों की श्रृंखला में वरिष्ठ कथाकार कामतानाथ को ‘स्पंदन शिखर सम्मान’, चर्चित कथाकार और संपादक (तद्‌भव) अखिलेश को स्पंदन पत्रकारिता पुरस्कार, ज्योतिष जोशी को ‘स्पंदन आलोचना पुरस्कार’, चर्चित युवा कथाकार योगेंद्र आहूजा को ‘स्पंदन कृति पुरस्कार’, चर्चित युवा कवि आर. चेतनक्रांति को ‘स्पंदन कृति पुरस्कार’, युवा चित्रकार अर्चना रतूरी को ‘स्पंदन चित्रकला पुरस्कार’ तथा वरिष्ठ रंग निर्देशक अलखनंदन को ‘स्पंदन रंग साधना सम्मान’ दिये जाने की घोषणा की गई थी।

इन नामों का चयन स्पंदन संस्थान द्वारा गठित विद्वानों की निर्णायक जूरी ने किया। स्पंदन की संयोजक-कथाकार उर्मिला शिरीष के अनुसार सम्मान समारोह 20 दिसंबर 2011 को भारत भवन में आयोजित किया गया। समारोह की अध्यक्षता लब्ध प्रतिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्‌गल ने की। अलंकरण समारोह के पश्चात काशीनाथ सिंह की कहानी ‘खरोंच’ और अमरकांत की कहानी ‘हत्यारे’ का मंचन वरिष्ठ रंगकर्मी गोपाल दुबे के निर्देशन में ‘भूमिका’, भोपाल के कलाकारों द्वारा किया गया।

> निर्णायक ज्यूरी ने किया कामतानाथ, ज्योतिष जोशी, अलखनंदन, चेतनक्रांति, अखिलेश, अर्चना और योगेंद्र जोशी का चयन।

सम्मान समारोह के दूसरे दिन दिनांक 21 दिसंबर को प्रातःकालीन सत्र में रचनापाठ का आयोजन किया गया। कामतानाथ की अध्यक्षता में अलखनंदन, अखिलेश, ज्योतिष जोशी, योगेन्द्र आहूजा, आर. चेतनक्रांति अपनी रचनाओं का पाठ किया। समारोह के प्रायोजन सहयोगी आईसेक्ट भोपाल, मध्यप्रदेश जनसम्पर्क और माध्यम रहे।

माथुर को आचार्य निरंजननाथ सम्मान

आचार्य निरंजननाथ स्मृति सेवा संस्थान उदयपुर और साहित्य त्रैमासिकी ‘संबोधन’ के तत्वावधान में इस साल का आचार्य निरंजननाथ सम्मान सुपरिचित कवि गोविन्द माथुर को उनकी काव्य कृति ‘बची हुई हँसी’ के लिए प्रदान किया गया। सम्मान में इकतीस हज़ार रुपये, श्रीफल, स्मृति चिन्ह तथा प्रशस्ति पत्र कवि को भेंट किये गए। इस साल से नवोदित रचनाकारों के लिए भी एक और सम्मान दिया गया जिसके लिए नीलिमा टिक्कू की कृति ‘रिश्तों की बगिया’ को चुना गया था। उन्हें भी प्रशस्ति पत्र, श्रीफल, स्मृति चिन्ह और ग्यारह हज़ार रुपये अर्पित किये गये।

सदियों से लोक कलायें अपना अस्तित्व ढूँढते हुए एक अनजान सफ़र कर रही हैं, सफ़र में अनेक बाधाएँ आयीं, रंग बिखरे और रंगों से जा मिले फिर कुछ नये रंग बने, परन्तु कलाओं ने अपना अस्तित्व समाप्त नहीं होने दिया वो आज भी अपने स्थिर आकार की तलाश में भटक रही हैं। उन कलाकारों के साथ, जिन्हें पता ही नहीं कि वो हर पल एक नई सृष्टि का निर्माण करते हैं।

सीधी म.प्र. के सबसे पूर्वी अंचल का एक ऐसा क्षेत्र है, जो आज भी अपनी पहचान खोज रहा है। थोड़ी सी उत्तर की बोली, थोड़ा सा छत्तीसगढ़ी तड़का, थोड़ी सी पठारी भूमि, थोड़ा सा नदियों का संगम। सीधी में आज भी लोक कलाओं की भरमार है पर न सजने-धजने का सलीका न व्याख्यायित करने की क्षमता, फिर भी नृत्य, गीत, कथा-गायन आदि कलाओं को प्रदर्शित करने में मानो स्वयं शिव ने प्रशिक्षण देकर पारंगत किया हो। परन्तु आज के इस आधुनिक परिवेष में सब कुछ धुँधला होता जा रहा है। तभी कुछ युवा कर्मियों और कला प्रेमियों ने इतिहास के उन पन्नों को समेटना शुरू कर दिया, जिन्हें समाज ने बिखरने के लिये छोड़ दिया था। पुनः मांदर, टिमकी, गुदुम, शहनाई आदि ध्वनियाँ गूंजने लगी और सब के सब ऊमड़ पड़े स्वयं के अस्तित्व को देखने के लिये।

संरचनाओं के अद्‌भुत रंग

‘सीधी लोकोत्सव’

एक यात्रा निकाली गई। ऐसी यात्रा, जिसका नाम दिया गया ‘सीधी लोकोत्सव’। एक यात्रा लोक व आदिवासी कलाओं की, जिसमें यह तय किया गया कि हम एक ऐसा आयोजन करेंगे, जिसमें कलाकारों को हम शहर नहीं बुलायेंगे, बल्कि हम स्वयं उनके गाँव-घर जायेंगे। उनकी खूबसूरती, उनकी सादगी उनका भोलापन उनकी ज़िन्दगी सब हम महसूस कर सकेंगे, देख सकेंगे।

लोकोत्सव के पहले दिन हमने शहर में एक सभा का आयोजन किया जिसमें शहर के सभी वरिष्ठ कलाकारों व साहित्यकारों को आमंत्रित किया, सबके सामने अपनी यात्रा की जानकारी देकर उन सबका आशीर्वाद प्राप्त किया।

लोकोत्सव के दूसरे दिन हम सभी कलाकार, साहित्यकार व हमारे अतिथि रत्ना पणिक्कर, स्टेला डियुप्स, वसंत निरगुणे, अपर्णा श्रीवास्तव और 35-40 व्यक्तियों के साथ हम सब निकल पड़े अद्‌भुत रंगों में रंगने के लिये, पहले हमने बढ़ौरा शिव मंदिर में जाकर आराधना की, फिर कठार में अहिराई नृत्य का आनंद लिया और प्रकृति की गोद में विचरण करते हुए जा पहुँचे गिजवार जहाँ रोशनी प्रसाद मिश्र ने सारी व्यवस्था कर रखी थीं। गिजवार में हमने करमा, गुदुम बाजा नृत्य आदि का प्रदर्शन देखा, और जा पहुँचे सीधी के सबसे सुन्दर गाँव कोचिला में, जहाँ चारों ओर सिर्फ पहाड़, पेड़-पौधे, हरियाली और गोंड जाति के लोगों की मांदर की थाप व सैला नृत्य ने नयी सृष्टि का निर्माण किया। सारे गाँव में लोग हजारों की संख्या में एकत्रित होकर झूम रहे थे।

लोकोत्सव के तीसरे दिन हम सुबह जा पहुँचे बीरबल की जन्म स्थली घोघरा देवी मंदिर, और माँ का आशीर्वाद लेकर हम चल पड़े सिहावल की ओर जहां लोक कलाकार हमारे इन्तज़ार में ग्रामवासियों के साथ अपनी कलाओं में प्रदर्शन के लिये व्याकुल थे। यह एक ऐसा गाँव था जहां मुस्लिम लोग अपने धर्म विरुद्ध मंदिर में जा पहुंचे और हमारा

स्वागत किया व पूजा कर अपनी नृत्य, युद्ध परंपराओं का प्रदर्शन किया। जहाँ एक तरफ मुस्लिम भाइयों ने लाठी, नृत्य का प्रदर्शन किया, वहीं हिन्दू भाइयों ने भगत, फाग, सैला व कोलदाहका आदि कलाओं के प्रदर्शन से दर्शकों का मन मोह लिया।

हम एक ऐसी दुनिया के दर्शन कर रहे थे जिसकी कल्पना हम सिर्फ गोष्ठियों, किताबों व चर्चाओं में करते हैं। लोकोत्सव के समापन दिन हमने सभी कलाओं के प्रदर्शन का आयोजन सीधी में किया, हमारा प्रयोजन सिर्फ इतना ही था कि हम स्वयं को पहचान सकें, हम यह देख सकें कि हमारी संस्कृति क्या है। हम यह सब कुछ महसूस कर सकें और उन सब कलाओं व कलाकारों का सम्मान कर सकें, जो उन्हें कभी नहीं मिली।

वक़्त गुज़रता गया और पता ही नहीं चला। वो धुँधली सी कल्पना जो कभी कभी मेरे सपने में आकर मुझसे कुछ कहती थी आज वो सब कुछ मेरी खुली आँखों के सामने बीत गया, यकीन नहीं होता कि आज हमने वो कर दिया जो सीधी के इतिहास में नहीं हुआ। गुरुजनों-परिजनों ध्रुव भैया, दादा भाई, रोशनी प्रसाद, अजीत सिंह (लल्ला), मुन्ना भैया, विक्रम भैया, अनूप भैया, अजय स्वामी, संदीप, पंकज, स्मिता, अभिलाषा, राकेश, राजनीश, पुष्पेन्द्र, आलोक लकी, चित्रसेन, देवेन्द्र, सचिन, नेहा, दीपाली के अथक प्रयास से सचमुच एक कल्पना को उसका सही आधार मिला। मैं तो बस एक माध्यम मात्र था।

-नीरज कुंदेर

कमलेश जैमिनी

'जुगलबंदी' में गूँजी ध्रुपद की तान

उस्ताद और शागिर्द साथ-साथ : ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर और उदय भवालकर

जाड़े के नर्मो-नाज़ुक अहसासों के बीच भोपाल की फिज़ाओं में विरासत का संगीत गूंजा। शामला पहाड़ी स्थित दूरदर्शन केंद्र भोपाल की चारदीवारी में ध्रुपद के फ़नकारों की महफ़िल जमी और माहौल देखते ही देखते सुर-ताल के सुंदर आयामों से महक उठा। ये ध्रुपद संगीत की अलग तासीर थी। इसमें जुगलबंदी का रोमांच सिमट आया था। दूरदर्शन केंद्र, ध्रुपद गुरुकुल संस्थान और संस्कृति संचालनालय की साझेदारी में हुए चार दिवसीय उत्सव की यह पहली शाम ध्रुपद के गुरु उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर, दूरदर्शन के महानिदेशक त्रिपुरारी शरण, दूरदर्शन केंद्र भोपाल के उपमहानिदेशक प्रभु झिंगरन और गुरुकुल ध्रुपद संस्थान के संस्थापक गुंदेचा बंधु ने परंपरा की देहरी पर दीपशिखा प्रज्जवलित की। भोपाल के रसिकों के लिए निश्चय ही सदियों पुरानी ध्रुपद परंपरा से रुहानी तार जोड़ने के ये बेशकीमती लम्हे रहे। राग-रागिनियों की छौंक के साथ बंदिशों को साजती आवाज़ों ने श्रोताओं को अपने आगोश में बांधे रखा। दूरदर्शन महानिदेशालय नई दिल्ली ने डी.डी. भारती चैनल पर दुनिया भर में जुगलबंदी के इस जश्न के सीधे प्रसारण की अनुमति दी और इस तरह सात समंदर पार तक ध्रुपद की खनक सुनाई दी।

दूरदर्शन केन्द्र भोपाल के स्टूडियो में 'जुगलबंदी उत्सव' का शुभारंभ करते हुये दूरदर्शन (दिल्ली) के महानिदेशक त्रिपुरारी शरण, मूर्धन्य ध्रुपद गायक और गुरू ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर, गायक गुंदेचा बंधु और भोपाल दूरदर्शन के निदेशक प्रभु झिंगरन

आस्था त्रिपाठी-रुपाली जैन का कंठ स्वर और चित्रांगना आगले की पखावज

पहली सभा

जैसे ही कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने ध्रुपद का परिचय देते हुए फ़नकारों को मंच पर आमंत्रित किया। सभा में मंच से लेकर श्रोताओं के बीच अनुशासन बन गया। इसी के साथ जुगलबंदी के सिलसिले में पाकिस्तान की आलिया रशीद के साथ सुर से सुर मिलाने कोलकाता की अमिता सिन्हा महापात्र राग देस के सुर साधने प्रस्तुत हुईं। गंभीर आलाप के बाद धमार की प्रस्तुति और उसके बाद संत कबीर का निर्गुण पद 'झीनी-झीनी चदरिया, कौन तार से बीनी चदरिया...' गाकर महफ़िल को बेहतर आग़ाज़ दिया। पखावज पर संगत रमेश चंद्र जोशी ने की। दूसरी प्रस्तुति में दो देशों की स्वर जुगलबंदी का इज़हार हुआ। भोपाल में ही ध्रुपद की तालीम लेने उदय भवालकर का साथ देने अमेरिका की चेलोवादक नैन्सी लेश कुलकर्णी आईं। इन फ़नकारों ने चुना राग बागेश्री। पखावज पर संगत माणिक मुंडे ने की। सभा को खूबसूरत अंजाम पर पहुँचाने भोपाल के जगतख्यात ध्रुपद गायक उमाकांत-रमाकांत गुंदेचा प्रकट हुए। भक्ति परक राग भूपाली में सबसे पहले आलाप, फिर उसके बाद बंदिश 'तू ही सूर्य तू ही चंद्र' पर गुंदेचा बंधु एकाग्र हुए। राग भूपाली की ही रचना 'शंकर सुत गणेश' में सुर ताल का संयोग बहुत ही मौजूं बन पड़ा। पखावज पर सुखद मुंडे ने संगत दी।

दूसरी सभा

साधना, संयम और समर्पण जब किसी कलाकार की शख़्सियत का अंग बनते हैं तो वह ध्रुपद जैसी गायन शैली में पूरे अनूठेपन के साथ अभिव्यक्त होता है। ध्रुपद जुगलबंदी उत्सव की दूसरी शाम ऐसे ही आरोहों-अवरोहों को समेटती रही। घराने की परंपरा को युवा फनकारों ने बखूबी निभाया। ध्रुपद गायकी के गुरु उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर साहब आशीर्वाद की मुद्रा में उपस्थित थे।

शाम के आगाज़ में भोपाल में ही तालीम पाने वाले अफ़ज़ल हुसैन और विशाल जैन ने अपनी गुरु परंपराओं का कुशलता से निर्वाह किया। उन्होंने राग विहाग चुना। आलाप, जोड़, झाला और धमार के बाद दूसरी प्रस्तुति राग मालकौंस, सूल ताल में निबद्ध रचना 'शंकर गिरिजापति पार्वती से स्वर जुगलबंदी का बेहतर इजहार हुआ। पखावज पर संगत कोलकाता के अपूर्वलाल मन्ना ने की। इसी के साथ डागर वाणी के नुमाइंदों के रूप में डागर बंधु (अनीसुद्दीन डागर-नफ़ीसुद्दीन डागर) ने दस्तक दी। उन्होंने राग काम्बोजी में 'मानस हूं तो वही रसखान, बसो ब्रज गोकुल गांव के ग्वालन' प्रस्तुत किया। राग अड़ाना में सूल ताल में निबद्ध रचना 'शिव-शिव' में ध्रुपद की शुद्धता और बंदिश का आध्यात्मिक सौंदर्य पूरा निखार पाता रहा। पखावज पर उद्धवराव शिंदे आपेगांवकर ने संगत की।

इस शाम की सबसे अलहदा पेशकश थी बिहार के दरभंगा घराने के गायक मलिक बंधुओं का गायन। पिता पंडित प्रेम कुमार मलिक और पुत्र प्रशांत-निशांत मलिक की जुगलबंदी ने श्रोताओं को ध्रुपद के अंतरभावों से परिचित कराया। उन्होंने राग सरस्वती में आलाप और चौताल में निबद्ध रचना 'तेरो ही ज्ञान-ध्यान तेरो ही सुमिरन' और राग शंकरा सूल ताल में निबद्ध 'शंकर महादानी' से श्रोताओं को दरभंगा घराने की खासियत से रूबरू कराया। पखावज पर संगत रायपुर के पृथ्वीराज कुमार ने दी।

तीसरी सभा

जुगलबंदी में थिरकते ध्रुपद संगीत के सुरताल की नायाब पेशकश महफ़िल को एक नए मुकाम पर ले गई। एक ओर उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर अपने शागिर्द उदय भवालकर को साथ लिए शिष्य परंपरा की साक्षात मिसाल बने तो दूसरी ओर प्रवीण आर्य और ऋषि शंकर उपाध्याय की पखावज जुगलबंदी ने ताल के सुंदर छंदों की बानगियों से सभा को सजाया। संजीव झा और सुप्रियो मोइत्रो ने भी ध्रुपद के सुरों को पूरी तल्लीनता से साधा। कार्यक्रम का आगाज हुआ संजीव झा और सुप्रियो मोइत्रो के युगल गायन से। शाम के राग पटदीप में लंबा आलाप लेकर इन दोनों फ़नकारों ने राग का विस्तार अपनी कल्पना से किया। जुगलबंदी का रोमांच पखावज के इर्द-गिर्द सिमट आया। ध्रुपद अंग के इस ताल-वाद्य पर चौताल के आवर्तन सुनना एक अनूठा अनुभव था। प्रवीण और ऋषि ने रियाज़ का सबूत दिया। उठान, कायदे, परन और तिहाइयों के खूबसूरत मोड़ों से रफ़्तार पाती जुगलबंदी में फ़ारुख खाँ का सधा हुआ सारंगी लहरा भी उतना ही काबिले गौर था। इसके बाद मंच पर आमद हुई मूर्धन्य ध्रुपद गायक और गुरु उस्ताद फ़रीदुद्दीन डागर और उनके शिष्य उदय भवालकर की। प्रस्तुति के दौरान उदय भी गुरु के साथ आत्मविश्वास से भरे नज़र आए। राग 'यमन' में आलाप, जोड़ के बाद बंदिश में उस्ताद और शागिर्द का आत्मीय संयोग देखते ही बना। अखिलेश गुंदेचा ने पखावज पर अनुकूल संगत दी।

चौथी सभा

सच्चे सुरों की कसौटी यही है कि वे रूह में इबादत की तरह असर करें और माहौल को एक खुशनुमा मौसम की महक से भर दें। ध्रुपद संगीत की सरगम कुछ ऐसी ही अमिट यादों की सौगात सौंप गई।

सभा की शुरुआत आस्था त्रिपाठी और रुपाली जैन की उत्साह भरी जुगलबंदी से हुई। पुरुष प्रधान गायन शैली ध्रुपद की चली आ रही परंपरा में स्त्री स्वर के इस नए तेवर का श्रोताओं ने स्वागत किया। पखावज पर भी इंदौर की चित्रांगना आगले रेशवाल ने ही लय-ताल का संयोग जुटाया। अप्रचलित राग अमृतवर्षा में आलाप के बाद बंदिश 'नाद-विकट ताल विकट' आस्था और रूपाली ने पूरे आत्मविश्वास से गाया। दूसरे पायदान पर पखावज में पंडित रामाशीष पाठक, संगीत कुमार पाठक और शुभाशीष पाठक की जुगलबंदी रसिकों को चौताल की उड़ान पर ले गई। ध्रुपद अंग के इस प्राचीन वाद्य पर तीन फ़नकारों की शिरकत ने महफ़िल को नई ऊर्जा दी। सारंगी पर फ़ारुख लतीफ़ ख़ां ने सधा हुआ लहरा दिया। ध्रुपद की तानों से गूंजते चार दिवसीय ध्रुपद जुगलबंदी उत्सव को चरम मिला बिहार की मल्लिक परंपरा की गायिकी से। गायक पंडित अभय नारायण मलिक, संजय मलिक और शिवप्रताप उपाध्याय ने गायन के लिए राग अभोगी कान्हड़ा को चुना। उसके बाद धमार की लरज़ती बंदिश और ऋतुराज बसंत में स्वर ताल का उम्दा तालमेल बनाती रचना ने माहौल को राग छवियों से सजाया।

उद्घोषक विनय उपाध्याय की विषय पर गहरी पकड़ और संवादशैली में प्रस्तुतियों की रोचक जानकारी उत्सव को चरम पर ले गई। कार्यक्रम के प्रस्तुतकर्ता अशोक पाण्डेय तथा साजिद रिज़वी थे। **-प्रस्तुति : प्रिंस**

धरोहर हैं उस्ताद की यादें

ध्रुपद गुरु तथा गायक ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर ने विनय उपाध्याय से साझा की स्मृतियाँ

अपने बड़े भाई उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर की स्मृति मेरे लिए अमूल्य निधि की तरह है। एक साये की तरह वो मेरी सांगीतिक ज़िंदगी का आज भी हमसफ़र हैं। सोचता हूँ, वो न होते तो शायद संगीत की अच्छी इल्म से वंचित रह जाता। वो उम्र में मुझसे तीन साल बड़े थे, पर वे बड़े भाई के साथ ही सच्चे गुरु और मित्र की तरह मेरा साथ निबाहते थे। हमारे परिवार की सांगीतिक परंपरा और विरासत की उन्होंने बड़ी जतन से हिफ़ाज़त की। मुझे न केवल जीवन जीने के गुर सिखाए बल्कि संगीत की पवित्रता को समझने और उसे आदर के साथ समाज में बाँटने की प्रेरणा भी दी।

अपने अग्रज उस्ताद के अतीत को याद करता हूँ तो मेरे ज़हन में वो समय कौंधता है, जब उनकी मृत्यु के बाद भारत आज़ाद हो गया था तथा राजदरबार टूटकर स्टेट में बदल गए थे। कलाकार छिन्न-भिन्न हो गए थे। उनकी रोज़ी-रोटी और सम्मान छिन गया था। हमारी हालत भी खराब हो गयी थी। माँ ने हमें आशीर्वाद देकर राजस्थान से बम्बई भेजा। कहा- मैंने तुम्हें पैदा किया है, तुम दोनों भाई अपनी माँ का दूध मत लजाना। कुछ बनकर ही आना। हम दोनों भाई बम्बई में माहिम में रहकर कठोर संघर्ष से गुज़रे। फुटपाथ की ज़िंदगी का भी स्वाद चखा और भूख-प्यास की कसक भी महसूस की। हम समंदर के किनारे एकांत में जाकर रियाज़ करते। उस्ताद मुझे तालीम देते और बिना एक पल गँवाए उसे अपने भीतर उतारने में जुट जाता। बम्बई में धीरे-धीरे हमें फिल्मों में टेक बजाने का मौका मिल गया। आजीविका के छिटपुट साधन तैयार हो गए। बम्बई में ही उस्ताद के कई शागिर्द बने। उन्होंने मुझे भी अपना शिष्य माना और मैंने उन्हें अपना गुरु।

उन्होंने सीख दी- जीवन में कुछ हासिल करना है तो गुरु के प्रति श्रद्धा रखनी होगी। हम लोग वापस उदयपुर आ गए। माँ बेहद ख़ुश हुई। हम कुछ समय बाद पुनः आए और फिर एक नया सफ़र हमने शुरु किया। दोनों भाई संगीत के विषय पर विचार करते। जो बात उचित होती उसे स्वीकार करते। हम दोनों के बीच एक अच्छा सामंजस्य था। यह वह दौर था जब बम्बई की व्यावसायिक चकाचौंध हर कलाकार को आकर्षित कर रही थी पर उस्ताद का मानना था कि हम जिस लक्ष्य को लेकर वहाँ आए हैं उसी पर हमें एकाग्र रहना चाहिए और यह

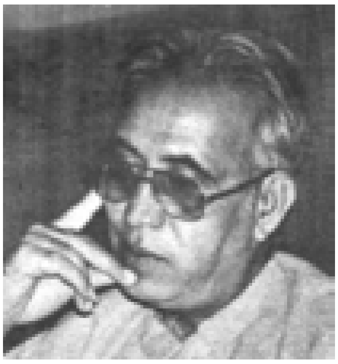

उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर

माँ ने हमें आशीर्वाद देकर राजस्थान से बम्बई भेजा। कहा- मैंने तुम्हें पैदा किया है, तुम दोनों भाई अपनी माँ का दूध मत लजाना। कुछ बनकर ही आना। हम दोनों भाई बम्बई में माहिम में रहकर कठोर संघर्ष से गुज़रे। फुटपाथ की ज़िंदगी का भी स्वाद चखा और भूख-प्यास की कसक भी महसूस की। हम समंदर के किनारे एकांत में जाकर रिज़ाज करते। उस्ताद मुझे तालीम देते और बिना एक पल गँवाए उसे अपने भीतर उतारने में जुट जाता।

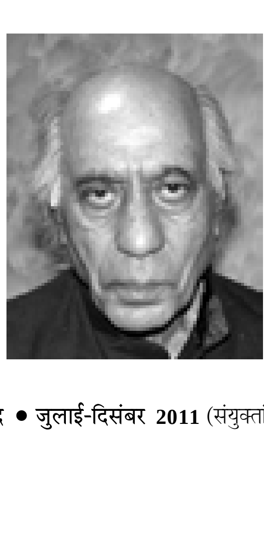

उन्होंने चरितार्थ भी किया। वहाँ हम साथ-साथ जुगलबंदी करते। रात-रात भर शिष्यों के यहाँ गाते। उस्ताद की शख़्सियत की ख़ूबी यह थी कि उनके भीतर एक अच्छा संगीतकार, कुशाग्र ज्योतिषी, गहरा दार्शनिक और प्रतिभाशाली वास्तुविद् छिपा था। मुझे अच्छी तरह याद है, पिताजी की वीणा को उन्होंने कई बार तोड़-मरोड़कर नई शक्ल दी और उसमें से नई खोज, नए आविष्कार करने में लग गए। जब अपनी सूझबूझ के साथ तैयार किए गए नक्शे को लेकर वे वीणा बनवाने कलकत्ता गए तो कारीगर दंग रह गया। कहने लगा कि उसने अपने जीवन में कभी ऐसी वीणा नहीं बनायी।

मेरा मानना है कि ध्रुपद के दो सौ साल के इतिहास में उस्ताद जैसी वीणा बनाने वाला कोई और नहीं हुआ। आगे उनकी ही संतान ऐसा कर पाये तो यह समय ही बताएगा। उनकी वीणा बजाने की तकनीकी भी जुदा थी। कैसे तारों को सुर में मिलाना, श्रुतियाँ कैसे उसमें बिठा, कितनी देर किस अंदाज़ में किस गहराई में डूब के आलाप बजाना, मीड़ के साथ गंभीरता और संवेदनशीलता का ध्यान रखना और इन सबसे ऊपर अपने ऐसी कल्पनाशीलता का प्रयोग करना कि सुनने वाला उसमें अपने चित्र खोजने लगे। रुद्र वीणा का ऐसा साधक तो मैंने नहीं देखा। तपस्वी, परिश्रमी और संवेदनशील।

उस्ताद ने मेरे उत्साह और प्रतिभा को देखते हुए यूरोप-अमेरिका की ध्रुपद यात्रा के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कहा - जा, बाहर अपनी कला का प्रदर्शन कर, अनुभव ले लोगों के बीच जाकर। इस सिलसिले में डॉ. ऋत्विक सान्याल और फिल्मकार मणिकौल भी हमसे जुड़े। कौल ने म.प्र. आकर 'सतह से उठता आदमी' फिल्म बनायी। उसमें मेरी सेवाएँ ली। मैं भी भोपाल आया तभी तत्कालीन अशोक वाजपेयी से भेंट हुई। उन्होंने मुझे भोपाल में रहकर ध्रुपद प्रशिक्षण का प्रस्ताव दिया। मैं जब यहां ध्रुपद प्रशिक्षण देने आया तो दो माह का विशेष ध्रुपद प्रशिक्षण देने बड़े उस्ताद भी भारत भवन आए। तब ख़ूब बातचीत हुई उनसे नए शिष्यों की, जिज्ञासुओं की। उन दिनों की रिकॉर्डिंग भी भारत भवन में संग्रहित है, जो अत्यंत यादगार और क़ीमती है। मेरा कहना है कि उस्ताद की सांगीतिक धरोहर जो पुरातत्व की तरह संग्रहालय में क़ैद है, नई पीढ़ी के शिष्यों के लिए आज़ाद की

जानी चाहिए। वे इसे सुनें, गुनें और चरितार्थ करें। उस्ताद एक महान गुरु थे। उनमें ज़बर्दस्त धैर्य था। वे कहते थे- एक सच्चे गुरु में धैर्य होना निहायत जरूरी है, तभी वह अपने शिष्य को ठीक से समझ सकता है, उसे तालीम दे सकता है। गुरु को विनम्रता से अपने शिष्य के सामने पेश आना चाहिए। भय दिखाकर न तो संगीत की सीख दी जा सकती है और न ही शिष्य के मन में आदर पाया जा सकता है।

उनका मानना था कि गुरु कभी-कभी अपने शिष्य से भी शिक्षा ले सकता है। बशर्ते वह शिष्य को पूरी तरह खुलकर प्रस्तुत होने का मौका दे। आज जबकि मैं अपने शिष्यों को ध्रुपद का प्रशिक्षण दे रहा हूँ तो ये बातें पूरी तरह से उन पर लागू करता हूँ। उस्ताद से मिले ये नायाब गुर मेरे लिए सफलता और और सुख के आधार हैं, बल्कि कहूँ कि मंत्र हैं, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। मैं तो थोड़ा उग्र भी हूँ लेकिन उस्ताद एक शांत निर्मल झरने की तरह थे। मुझे याद नहीं आता कि वे मुझ पर और अपने दीगर शागिर्दों पर किसी बात पर बरसे हों। एक मूर्धन्य कलाकार होकर भी, लोकप्रियता के पीछे वे कभी नहीं भागे। किसी जोड़-तोड़ में नहीं रहे। वे स्वाभिमानी कलाकार थे। दुर्भाग्य है कि ऐसे संगीत मनीषी को भारत में यथोचित सम्मान नहीं मिला। आज उनका अवदान अंधेरे में खो गया है।

आकाशवाणी, भारत भवन, म.प्र. कला परिषद् उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत अकादेमी को चाहिए कि वे उनकी पुरानी रिकॉर्डिंग के सी.डी. बनवाए, ध्रुपद के नवोदित शिष्यों के सामने उसे शोध के लिए प्रस्तुत करें। यहाँ मैं श्री अशोक वाजपेयी को साधुवाद देना चाहूँगा कि उन्होंने अपने कार्यकाल में उस्ताद और हम जैसों को ससम्मान बुलाया और कुछ सार्थक करने का अवसर दिया। दिनों-दिन बढ़ती जा रही व्यावसायिकता और तेज़ी से शिखर पाने की लालसा में ध्रुपद की असल चमक, उसकी मौलिकता खत्म होती जा रही है। ध्रुपद को जनता के बीच आधुनिक स्वरूप में पेश करने की गरज़ में खोखला बनाने का अभियान चल रहा है। ऐसे में मुझे अपने उस्ताद का धीरज फिर से याद आ रहा है।

कवि प्रणाम

सांस्कृतिक संचेतना के संरक्षण, दस्तावेज़ीकरण और प्रसार की दिशा में सक्रिय भोपाल स्थित इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय ने विगत दिनों शामला पहाड़ी स्थित वीथि संकुल रंग शाला में 'कवि प्रणाम' का आयोजन किया।

संगीत और नृत्य के मनोहारी ताने-बाने से सजी सभाएँ दरअसल नोबेल पुरस्कार से सम्मानित विश्व कवि और संस्कृति पुरुष रवींद्रनाथ टैगोर के प्रति हार्दिक आदरांजलि का प्रतीक बनीं। गौरतलब है कि इस समय समूचे भारत में रवीन्द्र के सृजनात्मक योगदान को विभिन्न आयोजनों के माध्यम से रेखांकित किया जा रहा है। मानव संग्रहालय ने विशेष रूप से 'कवि प्रणाम' के प्रकल्प के साथ टैगोर द्वारा स्थापित गुरुकुल शांति निकेतन में संचालित विश्व भारती के कला दल को प्रस्तुतियों के लिये आमंत्रित किया। सभी रचनाओं में टैगोर के काव्य और संगीत अथवा उनके सांस्कृतिक चिंतन को अनूठी अभिव्यक्ति मिली। भोपाल के कला रसिकों ने इस आयोजन के साथ अपनी रुहानी नातेदारी बनायी। कवि गुरू की स्मृति और उनकी साहित्यिक-सांस्कृतिक धरोहर को भोपाल के रंगमंच पर अन्य संस्थाओं और कलाकारों द्वारा भी पूरी श्रद्धा के साथ प्रकाशित करने के उपक्रम जारी हैं।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (भोपाल) के सालाना हिन्दी सेवी सम्मान समारोह में महामहिम राज्यपाल रामनरेश यादव वरिष्ठ चित्रकार और कला गुरू रेखा भटनागर का अभिनंदन करते हुए। समीप हैं संस्था के मंत्री - संचालक कैलाशचंद्र पंत।

पाठक संवाद

कहानी में नयेपन की तलाश

सुरेश पंडित

'रंग संवाद' के मई-जून 11 का संपादकीय काफी विचारोत्प्रेरक है। इसमें कला की नई रचनात्मकता पर बात करते हुए संपादक सन्तोष चौबे ने पाठकों से यह आग्रह किया है कि इसे पढ़ते हुए यदि उनमें कुछ प्रतिक्रिया पैदा होती हैं तो वे उसे चिट्ठी लिखकर अवश्य व्यक्त करें। वे शायद यह भूल गये हैं कि अब चिट्ठी लिखने का चलन लगभग नहीं रहा है। इनसे वे बेलाग सूचनायें तो मिलती हैं जिनमें विशुद्ध जानकारी बहुत कम शब्दों में होती है, मन को उद्वेलित करने वाले भाव प्रायः ग़ायब रहते हैं। पहले डाक में दो चार चिट्ठियाँ और इक्का-दुक्का पत्रिकायें आती थी अब चिट्ठी के दर्शन विरल हो गये हैं। कभी गाँव से जो चिट्ठी आती थी (अक्सर पोस्टकार्ड में) उसमें अपनी कुशलता के समाचार तो होते ही थे पाने वाले के लिये शुभकामनायें भी होती थीं। साथ ही निजी समाचारों के अतिरिक्त गाँव के सभी परिचितों से सम्बन्धित जानकारियाँ भी रहती थीं। उन्हें स्वयं पढ़ने के साथ-साथ घरवालों को भी बाँच कर सुनाया जाता था। इस तरह पाने वाला घर और गाँव में हो रही घटनाओं से अनायास अवगत हो जाता था। उसका अपने लोगों से सम्पर्क बना रहता था। अब इतना समय नहीं रह गया है लोगों के पास या फिर अपने अलावा और किसी के बारे में जानकारी पाने की लालसा उनमें नहीं रह गई है। फिर भी सन्तोष चौबे का चिट्ठी लिखने के लिये आग्रह कदाचित् उन छोटी-छोटी चीज़ों को बचाये रखने की कोशिश है जो लोगों को एक अवर्णनीय ढंग का उल्लास, सुकून देती थी।

बहरहाल अब हम उन मुद्दों पर बात करते हैं जिन्हें इस संपादकीय में रेखांकित किया गया है। युवा कहानी की सामाजिकी के बहाने इसमें जिस नई रचनात्मकता पर बात शुरू करने की कोशिश की गई है और इसके लिये जिन कहानियों का चयन किया गया है उन्हें इस समय की कहानियों का प्रतिनिधि चयन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इनके अलावा भी युवा लेखक आदिवासियों के छिनते जीवनाधिकारों, नक्सल आन्दोलन की आन्तरिक सच्चाइयों, दलितों की बदलती जीवन स्थितियों, गांवों की राजनीति के बदसूरत चेहरों और अपनी-अपनी जड़ों से उखड़े ग्रामीणों व आदिवासियों द्वारा नई परिस्थितियों से जूझने के प्रयासों जैसे विषयों पर भी कहानियाँ लिख रहे हैं और बड़ी महत्वपूर्ण लिख रहे हैं। युवा लेखन की सामाजिकी में इस तरह के लेखन को शामिल न करना हैरत पैदा करता है। दरअसल संपादक ने जिन युवा लेखकों को चुना है उनमें से अधिकतर अभिजात उदार नव आर्थिकी के फलस्वरूप उपजे नये मध्यम वर्ग के शहरी लोग हैं। इनके लिये स्त्री पुरुष सम्बन्धों को परत दर परत उघाड़ने और उसमें स्त्री पक्ष के प्रति अधिक उदार होने के अतिरिक्त और कोई विषय बचा भी कहाँ है। जिन विषयों पर अन्य लेखक लिख रहे हैं उन पर लिखने के लिये जिस संवेदना, अनुभव व अध्ययन की ज़रूरत होती है वे इनके पास नहीं है। इसलिये उनकी सोच का दायरा सीमित है और उस दायरे में रहते हुए वे जो कुछ लिख सकते हैं लिख रहे हैं। पर बकौल फ़ैज़ 'और भी ग़म हैं ज़माने में मोहब्बत के सिवा' अफ़सोस है इस मोहब्बत को पकड़े रहना उनकी मजबूरी है। अपनी इस मजबूरी को छुपाये रखकर अपने केन्द्रीय विषय को महत्वपूर्ण मनवाने के लिये ही यह मांग की जा रही है कि उनके लेखन के लिये ऐसे नये प्रतिमान गढ़े जाने चाहिये जो आज के जीवन की पेचीदगियों को समझने में सहायक हों और उनका सही-सही मूल्यांकन कर सकें। इस बारे में क्या यह विचारणीय नहीं है कि इस तरह की मांग दूसरी तरह के लेखकों की ओर से क्यों नहीं आ रही है।

आइये, अब इस बारे में भी ज़रा गौर कर लें कि इस लेखन में नया क्या है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आदिकाल से लेखन का विषय रहे हैं और आगे भी रहेंगे। फ़र्क केवल इतना है कि पिछले बीस-बाईस सालों में सामाजिक आर्थिकी में जितनी तीव्रगति से बदलाव हुआ है उसने इन्हें और अधिक जटिल, उलझा हुआ बना दिया है। ऐसी स्थिति में यदि कुछ नवीनता आई है तो वह इस उलझन को नये शब्दों, मुहावरों में प्रकट करने की है अर्थात् शिल्प को बदला है पर कथ्य वही है। स्त्री जो सदा उपेक्षिता रही थी और जो कभी समाज की एक स्वतंत्र इकाई नहीं बन पाई थी वह अचानक जाग गई है और अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने और मनवाने के लिये जद्दोजहद कर रही है। इसके फ़लस्वरूप समाज में विशेषकर पुरुष वर्ग में जो प्रतिक्रिया हो रही है उसने दोनों के रिश्तों में उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। इसी परिवर्तन को यदि आप नया मानें तो इस पर ऐतराज़ किया जा सकता है। क्योंकि यह नया भी पुराने के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही है। स्वयं युवा लेखक मनोज रूपड़ा अपनी कहानी-'आमाजगाह (लक्ष्य स्थान)' में एक जगह लिखते हैं- 'हर गुमशुदा रवायत की अपनी रूह होती है जो कभी फ़ना नहीं होती। नये दौर की रफ़्तार चाहे जितनी तेज़ हो मगर उसे लौटकर फिर वहीं आना पड़ेगा, जहाँ पुरानी चीज़ें दबी पड़ी हैं।' इस तरह वे सन्तोष चौबे की उस उक्ति का समर्थन करते दिखाई देते हैं जिसके अनुसार- 'नया पुराने से ही निकलता है और वह निरन्तरता का ही एक हिस्सा होता है।'

जैसे-जैसे साहित्य की कोई विधा अपने ढाँचे को तोड़कर अलग से उसका निर्माण करती है, वह नवनिर्माण की बजाय पुनर्निर्माण होता है। उसको परखने के मापदण्ड भी वैसे-वैसे बदलते रहते हैं। पहले रचना आती है फिर उसे मापने की कसौटी बनती है। कविता में अतुकान्त का प्रयोग जैसे ही प्रचलन में आया या प्रेमचन्द के बाद जैसे ही कहानी का स्वरूप बदला आलोचकगण उनके अनुरूप प्रतिमान गढ़ने लग गये। वह प्रथा जारी है। हाँ, इस समय ज़रूर इस

क्षेत्र में अराजकता छाई हुई है। यह निश्चय ही इसलिये है क्योंकि अभी यह रचनात्मकता संक्रमण काल से गुज़र रही है। परिवर्तन की रफ़्तार इतनी तेज़ है कि उसके साथ क़दम मिलाना मुश्किल होता जा रहा है। साहित्य की हर जीवन विधा में अनेक प्रयोग आये दिन हो रहे हैं। इसका एक कारण मुझे यह भी लगता है कि आज़ादी से पहले और तीन चार दशकों बाद तक रचना के क्षेत्र में शिक्षण या पत्रकारिता से जुड़े लेखकों का ही बोलबाला था। पिछले दो-तीन दशकों से वह 'मोनोपली' टूटी है। इतर व्यवसायों से जुड़े लोगों का इस ओर पदार्पण हुआ है और वे लोग अपने साथ अपनी भाषा, तकनीक व संस्कृति लेकर आये हैं। उनका कहने का लहज़ा, चीज़ों को पकड़ने की दृष्टि और सोच विचार पहले जैसे लेखकों की तरह का नहीं है। इसने रचनाओं का कायाकल्प किया है। इसी को युवा लेखक नये प्रयोग का नाम दे रहे हैं। जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं। इन लोगों ने प्रचलित परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। उनका रूपान्तरण किया है। कोई नई परम्परा को जन्म नहीं दिया है। न ही रचना के चौखटे को समग्रतः बदल दिया है।

कहानी को कहानी बनाये रखने की पहली शर्त है उसमें रीडेबिलिटी या पठनीयता का होना। शुरू से ही जो कहानी पाठक को अपने में बांधती नहीं, आगे पढ़ने की उत्कंठा नहीं जगाती और उसे अपने संसार में नहीं ले जाती उसका कहानीपन अनिवार्यतः कमज़ोर होता है। दूसरी शर्त इन्टेन्सिटी अर्थात् गहराई की है। यह गहराई निश्चय ही लम्बे आत्म संघर्ष और अनुभवों के विधिवत् संचयन से आती है। तीसरी शर्त क्रेडिबलिटी अर्थात् विश्वसनीयता की है। कहानी को मन लुभाऊ बनाने के लिये विभिन्न 'डिवाइसिज' का उतना ही उपयोग किया जाय जितने को पाठक संभाव्य मान पाये। इनमें से किसी भी शर्त का उल्लंघन कहानी को क्षति पहुँचा सकता है। मैं यह सोचकर कभी-कभी हैरान हो जाता हूँ कि लगभग साठ साल पहले पढ़ी गई कहानियाँ गुलेरी की 'उसने कहा था', सुदर्शन की 'हार की जीत', जैनेन्द्र की 'अपना-अपना भाग्य' और विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' आज भी मेरे स्मृति पटल ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, मुझे बांधे हुए हैं जबकि आजकल जितनी विपुलता से कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें से कोई ही मुझे इतना अभिभूत कर पाती है कि मैं उसे अपने स्मृति कोष में संचित कर रख सकूँ।

यह सच है कि फ्रीडमेन का दुनिया के फ्लेट (सपाट) हो जाने का दावा सही नहीं है। भारत ही नहीं, विश्व के प्रायः सभी देशों में किसी न किसी किस्म की ग़ैरबराबरी और बहुरूपता कायम है। इसलिये कोई एक नियम सिद्धांत सब पर लागू नहीं हो सकता। इस बात को ध्यान में रखते हुए जब कोई रचना अपने परिवेश के यथार्थ को प्रकट करती है तो वह सर्वव्यापी हो जाती है बशर्ते उसका यथार्थ रचनाकार का भोगा, आत्मसात् किया हुआ यथार्थ हो। हाल ही में आया नोबल पुरस्कार प्राप्त लेखक मारियो वार्गास ल्योसा का नया उपन्यास 'द स्टोरी टेलर' इस बात की ताईद करता है। असन्तोष, अतृप्ति, अनिश्चय और असुरक्षा बोध आज के जीवन का सच है लेकिन यह भी सच है कि अभी भी ऐसा बहुत कुछ बचा हुआ है जो जीवन को जीने योग्य बनाये हुए हैं। कहानीकार को इस आश्वस्ति बोध को हर कीमत पर अपनी रचनाओं में दिखाते रहना चाहिये।

सहमत-असहमत

डॉ. विजय बहादुर सिंह

'रंग संवाद' का अंक 4 (अप्रैल-जून 2011) मिला। पहले तो इसका आकर्षक चेहरा-मोहरा और रूप-आकार देख मन मुग्ध हो गया। वैसे भी मैं अपने सौन्दर्य प्रेम के लिए बुरी तरह बदनाम हूँ। इसलिए रीझना स्वाभाविक था। फिर संपादकीय पर आया जो नई कहानियों की रचनात्मकता पर केन्द्रित है। प्रधान संपादक चौबे जी युवा कहानी की सामाजिकता पर विचार मग्न हैं। उनका यह सवाल कि जीवनानुभवों (यथार्थ) में कला की मध्यस्थता क्या ज़रूरी नहीं है, बिल्कुल ठीक है। पर कला ही तो सृजन है, सामान्य कथन नहीं। कला का काम ही है सपना देखना। चौबेजी से सहमत हुआ जा सकता है कि कला सड़े-गले से लड़ती है और सपने देखती है। हुआ यह कि यह 'कलात्मक सत्य' दरकिनार किया गया और विचारधारा के सत्य को पुजारियों की तरह पूजा और प्रचारित किया गया। कला का सत्य जीवन के गहरे सत्यों का प्रतिबिंबन करता है। कला का रहस्य यही है।

मैं चौबेजी से असहमत हूँ कि नयापन विचार से होता है। मैं मानता हूँ कि वह लेखक की अनुभव-दृष्टि में निवास करता है। लेखक/कवि की यह अद्वितीयता नहीं कि वह नयी विचारदृष्टि लेकर आए। सो तो 1925-35-40 के पास बहुतेरे लेकर आए- कोई मार्क्सवादी, कोई अस्तित्ववादी। पर इनका सबका यह नयापन अर्जित नहीं था। यह कला का राजनीतिकरण या दार्शनिकी परहेज की वस्तुएँ नहीं हैं, पर इनसे कला की विशिष्टता की अगर पहचान बनती तो कविवर शील, रांगेय राघव या कई विस्मृत नये कवि महत्वपूर्ण हो उठते। मूकमाटी के जैन मुनि विद्यासागर महाराज भी केदार और त्रिलोचन जैसे बड़े और सिद्ध कवि अगर शमशेर और मुक्तिबोध से आगे नहीं जा पाते और नागार्जुन अज्ञेय जैसे कवियों के लिए चुनौती बन जाते हैं तो सोचना पड़ेगा कि इसमें क्या नई वैचारिकी का योगदान है?

सर्जक प्रतिसृष्टि खड़ी करता है। उसकी सामाजिकी उसे समकालीनता और प्रासंगिकता प्रदान करती है पर यशपाल, अमृतलाल नागर और रेणु, निर्मल वर्मा, अज्ञेय में क्या सामाजिकी का फर्क नहीं है? क्या मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और दिनकर में सिर्फ वैचारिकी का फर्क है? क्या प्रसाद, निराला में सिर्फ दार्शनिक आधार का फर्क है? नहीं। उस 'मन' का फर्क है। निराला के शब्दों में - 'एक और मन' जो न तो परम्परागत से आतंकित होता है, न समकालीनता से अभिभूत और मोहग्रस्त या मोहांध। यह जितना पुराने से लड़ता है, उतना ही नए के प्रति संदेहशील और सचेत भी होता है।

पाठक संवाद

चौबेजी ने अपने संपादकीय में तात्कालिकता-बोध की प्रबलता का प्रश्न नहीं उठाया। युवा कवि हों या कथाकार वे सब बहुत मेधावी होकर भी बेहद तात्कालिकता जीवी हैं। उन्हें साहित्य की चमकें पसंद हैं पर जीवन की सुदीर्घ विरासतें नहीं। वे लेखक होकर ज़िन्दा रहना चाहते हैं सर्जक होकर या कृतिकार होकर बिल्कुल नहीं। यहीं उदय प्रकाश जैसे लोग असाधारण हो उठते हैं, मैत्रेयी पुष्पा अत्यन्त विवादित हो उठती हैं।

●●●

'रंग संवाद' रंगकर्मियों से संवाद के लिए दिनों-दिन उपयोगी होता जा रहा है। प्रकाशन की अपनी समस्याएँ हैं, ऐसे में रंगमंच को केन्द्र में रख कर किसी पत्रिका के प्रकाशन का ज़ोख़िम भाई संतोष चौबे और विनय उपाध्याय जैसे रंग प्रेमियों के बलबूते की बात है। रंगमंच से संबंधित ढेर सामग्री मेरे पास है। 'रंग संवाद' से नियमित संवाद बनाए रखने की कोशिश करूंगा। **-अरुण पाण्डेय,** जबलपुर

●●●

'रंग-संवाद' का अंक 'कम्प्यूटर' पर देखा। रंग-कर्म के प्रति आपकी गहरी सम्बद्धता-प्रतिबद्धता देखकर अपनी प्रतिक्रिया से न रोक सका। भोपाल में सृजन का कितना व्यापक क्षितिज है और यहाँ कोटा में हम अपने घर के ऊपर तने वितान को ही क्षितिज समझने के लिए अभिशप्त हैं। हो सकता है, चाहत और महत्वाकांक्षा की तीव्रता भी कम हो। 'रंग संवाद' के इस अंक में मेरे अभिन्न साथी शिवराम का साक्षात्कार प्रकाशित हुआ है। **-महेन्द्र नेह,** कोटा (राजस्थान)

●●●

रंगमंच की सशक्त संवाहक। बेहद बढ़िया काम। बहुत सारी बधाईयाँ। अरसे बाद कुछ मीठी स्मृतियाँ उभर आईं। इन दिनों कला जगत के दृश्य और श्रव्य माध्यमों में देखने को तो सब कुछ दिख ही रहा है। लेकिन मधुर और सूदिंग सुनने का अवसर मिलता ही नहीं, यानी जेहि विधि... तेहि विधि वाली स्थिति बना दी गई है। ऐसे में रंग संवाद के रंग अद्भुत हैं। पता तो चले कि एक पत्ता हिल रहा है। हाँ यादें.... भाई विजय दिंडोरकर के साथ किए श्रेष्ठ मराठी नाटकों के रेडियो रुपांतर (कथा कुणा ची व्यथा कुणी) सुश्री ज्योत्सना मेहता के साथ राजेन्द्र सिंह बेदी का गरमकोट, भाई प्रहलाद सिंह टिपाणिया का प्रथम रेडियो प्रसारण और पं. जसराज के साथ साठ के दशक में लिया इंटरव्यू जिसमें उनसे खास तौर पर राग धूंडिया मल्हार की दुर्लभ बंदिश सुनने को मिली। निमाड़ के काठी-नृत्य के साथ कलगीतुर्रा शैली के विलक्षण प्रस्तोता भाई सुमेर सिंह सुमन। सद्गुरु सिंगा के गायक गोविन्द चुन्नीलाल पाटीदार और स्व. घासीराम गोपाल जी। सच जानिए ऐसा बाद में सुनने को नहीं मिला। ऐसी अनगिनत यादें। **-स्वतंत्र कुमार ओझा,** इंदौर

●●●

साहित्य-कला-संस्कृति के प्रति आपका अनुराग गुणानुवाद की श्रेणी में आता है। आपने ताज़े अंक में छत्तीसगढ़ के 'राउत नाचा' पर आलेख का प्रकाशन समय पर किया है, क्योंकि दीपावली के कुछ ही दिनों बाद छत्तीसगढ़ की धरती पर इसका प्रदर्शन लोक-संस्कृति को करवट लेने का अवसर प्रदान करता है। निमाड़, बघेलखंड के साथ-साथ प्रहलाद टिपाण्या पर आलेख और टिप्पणियाँ मूल्यवान हैं। आजकल राजधानी ही नहीं अन्य नगरों-महानगरों में संस्कृति के समाचार या रपटें तिरोहित कर दी गई हैं- कारण यह है कि इस विधा से शून्य लोग इन पृष्ठों को देख रहे हैं। वनमाली प्रसंग की अपनी गरिमा है। मुझे कुछ वर्षों पहले जब मैं मुम्बई में था- ग्रेंड बाजार के एक पुरानी पुस्तकों के विक्रेता के पास 'कलकत्ता' से निकलती रही पत्रिका की एक फाईल ही मिल गई थी। उसमें वनमाली जी की कहानी थी। तब मुझे प्रेमचंद युग की याद आई थी। आपकी रपट उपन्यास को केन्द्र में रखकर बड़े ही मनोयोग और श्रद्धा के साथ की गई है। यह अंक पढ़कर मुझे लगा कि साहित्य-कला की पत्रिकाओं और ऐसी रपटों का जमाना लौटने ही वाला है। **-राम अधीर,** भोपाल

●●●

एक सुखद अनुभूति शुरु से आख़िर तक। हाथ से छोड़ने की इच्छा नहीं हो रही थी। ऐसा है 'रंग संवाद'। सही मायनों में संवाददाता। अर्थशास्त्र में घटते क्रम की उपयोगिता का सिद्धांत होता है, जिसमें चरम बिन्दु पर आते उपयोगिता शून्य हो जाती है, परन्तु रंग संवाद ने इस सिद्धांत को गलत साबित कर दिया। घटने की बजाय गुणवत्ता बढ़ती गई। उपमाओं का भंडार कम पड़ने लगा है। कुँवर अनुज ने 'काठी' से बचपन की याद ताज़ी कर दी। नवरात्री की गम्मत, राम सप्ताह आदि उत्सवों की फिर से याद ताज़ी करने का अनुरोध भी है। **-जनार्दन बी. जोशी,** भोपाल

●●●

नाटक, साहित्य और कला, कलाकार के त्रिकोण को समझने के लिए जिस गम्भीर परख-पड़ताल और विमर्श के साथ खोजीकर्म की आवश्यकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है उस दिशा में रंग संवाद की भागीदारी महत्वपूर्ण है। कविता और संगीत दोनों की संपादकीय में जो मौलिक है वह संतोष चौबे ने किया है वह कुछ सोचने पर विवश करता है। नाटक की भाषा पर राजेश जोशी की चिंता जायज़ है रंगमंच की ताली निर्देशक और नाटककार दोनों को मिलकर ही बजानी पड़ेगी। एक हाथ से कुछ भी संभव नहीं है। डॉ. विजय अग्रवाल ने कला पर पूँजी के प्रभाव को बखूबी रेखांकित किया है। संवाद की मर्यादा पर निर्मल वर्मा की टिप्पणी सटीक है। हिन्दी नाट्यलेखन की गंभीर स्थिति पर विनय उपाध्याय जी ने विचारोत्तेजक विमर्श किया है। इतने समृद्ध लोक के लिए बधाई स्वीकार करें। **-श्रीरंग,** इलाहाबाद

●●●

पत्रिका की छपाई बहुत शानदार है। संयोजन बहुत कलात्मक है। ऐसी अच्छी पत्रिका वनमाली सृजन पीठ निकाल रहा है, वह बहुत बधाई की हकदार है। प्रभु जोशी की तल्खियत उनकी खास पहचान है। तीखा यथार्थ बोध

पाठक संवाद

और प्रतिकार का ठोस साफ स्वर। नयी बन रही (बनाई जा रही) एफ.एम. की सतही संस्कृति पर उनका लेख बहुत असरकारी है। शिवराम का साक्षात्कार पल्लव द्वारा भी उनकी पूरे कला पक्षधरता को सामने लाता है। संपादकीय में संतोष जी ने मौजूदा नये कहानीकारों के आयोजित ट्रेण्ड पर सटीक टिप्पणी दी है। बदलाव भाषा से नहीं, विचार से आते हैं। भुलवाराम जैसे लोक कलाकार को इतनी शिद्दत से विनय ने याद किया। मन को छू गया। आपकी यह टिप्पणी हमारे कला प्रसंशक समाज पर एक तमाचा है- ''यह हमारे समय की त्रासद सच्चाई है कि अभी भी निष्कलुष मन से हमारा समाज प्रचार-प्रसार और लोकप्रियता से बेफिक्र कलाकारों के अवदान का आभार मानने और उनकी मृत्यु पर शोक जताने में कितना कृपण है।'' **कैलाश वनवासी,** दुर्ग (छ.ग.)

●●●

'रंग संवाद' पहली नज़र में कोई शासकीय प्रकाशन या शासकीय अनुदान प्राप्त प्रकाशन लगा। पत्रिका के कलेवर एवं उत्कृष्ट छपाई को देख मन प्रसन्न हो गया। पत्रिका के संपादकीय में वर्तमान कथा साहित्य की धारा एवं अवस्थिति पर गंभीर आलोचनात्मक दृष्टि एवं अन्य सूचनाप्रद लेखों ने मजबूर कर दिया कि 'रंग संवाद' नामक इस सार्थक प्रयास की सराहना करूँ।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन काल (1993-1996) के दौरान 'इप्टा' का सक्रिय सदस्य हूँ। रंगमंच से तभी से परिचय है। इलाहाबाद के उत्तर-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र में शायद ही ऐसा रंगमंच से जुड़ा कोई समारोह हो जिसको नजदीक से न देखा हो। सरकारी प्रयासों व धन से होने वाले आयोजन तथा प्रकाशन स्तरीय व सार्थक होते थे। इस दौरान हबीब तनवीर, रतन थियम, अलखनंदन आदि दिग्गज रंगकर्मियों द्वारा निर्देशित नाटकों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन नाटकों की समीक्षा व आलोचना के लिए सार्थक मंच का अभाव निरंतर महसूस हुआ। 'रंग संवाद' का अंक देखकर यह कमी दूर होती दिख रही है।

यह पत्रिका समग्र रूप से रंगमंच को परिभाषित करती है। बादल सरकार के लेख 'रंगमंच की बदलती भाषा', सेवाराम त्रिपाठी के लेख 'नाटक सदा एक नई आहट' के अलावा रंगमंच पर केन्द्रित अन्य सार्थक लेख यह तय करते हैं कि 'रंग संवाद' में लोककलाओं और लोकसंस्कृति का परिचय देते हुए ऐसे आलेख देखने को मिले जो संस्कृति विभाग जैसे तमाम सरकारी प्रयासों से निकलने वाली पत्रिकाओं में भी नहीं दिखते। 'राउत नाचा' जैसे आयोजन का परिचय मुझे 'रंग संवाद' के माध्यम से ही हुआ है वरना ग्वालियर में बैठकर मुझे बिलासपुर की ऐसी लोक गतिविधि का कैसा पता चलता! किसी खबरिया चैनल ने ऐसे आयोजनों को रेखांकित नहीं किया। यह एक ऐसा प्रयास है जो महज रस्म अदायगी न होकर दिल से जुड़ा लगता है। **डॉ. परितोष मालवीय,** ग्वालियर

●●●

संपादकीय पढ़कर अच्छा लगा और यह भी कि कला में नयेपन का अर्थ रुपांतरण भी हो सकता है। म.प्र. के निमाड़ का काठी, बुन्देलखण्ड के स्वांग एवं छत्तीसगढ़ के राऊत नाचा के बारे में जानकारी मिली। रंग संवाद पढ़ने से इन लोक कलाओं को करीब से जानने की इच्छा बढ़ी है। मास कल्चर और भविष्य की लोक संस्कृति बढ़िया आलेख है। लोक संस्कृति एवं कलाएँ सिर्फ सांस्कृतिक समारोह तक ही सिमट आयी हैं। कहीं ना कहीं इनका उपयोग कर इन्हें आगे लाया जा रहा है, ये बात तसल्ली देती है। रंगमंच और कविताओं के बारे में विस्तृत ज्ञान तो नहीं है किन्तु कोशिशें जारी हैं। और विनय उपाध्याय के आलेख 'रंगपटल पर आँचल पसारती कविता' ने एक नई सोच प्रदान की। ''भुलवाराम जी'' से भी विनयजी ने ही मुलाकात करवाई।

संगीत सिर्फ सिनेमा तक सीमित रह गया है। संस्कृति के नाम पर हम आने वाली पीढ़ी को क्या देंगे? शुभा मुद्‌गल के विचार पढ़कर यह सवाल खुद से किया। आज हर तरफ फिल्मी गीतों का ही बोलबाला है। कला और शास्त्रीय गायन रुचि होने पर भी क्यों पीछे छूट रहे हैं। ये एक दुखद अनुभव था जब पिछले दिनों भारत भवन में हुए 'बादल राग' के पहले दिन 'देबू चौधरी' का सितार वादन सुनने गई और वहाँ गिने चुने दर्शकों को पाया। 'अंतर्लय को पुकारती आवाज' सौरभ का लेख सजीव था। पढ़ते समय भारत भवन के उसी खचाखच भरे 'बहिरंग' में पहुँच गई जहाँ सामने मंच पर पं. जसराज अपने गायन की प्रस्तुति दे रहे थे। 'प्रेम के बहुरंग' में सोनल मानसिंह और नायिका के आठ रूपों से भी मिलना हुआ। कहीं-कहीं प्रूफ की गलतियों को सुधारने की आवश्यकता है। **-एकता गोस्वामी,** भोपाल

●●●

सांस्कृतिक सरोकारों से सराबोर पत्रिका 'रंग संवाद' वास्तव में समस्त कलाओं का अन्तरसंवाद है। रंगमंच, संगीत, साहित्य, शिल्प, चित्रकला इत्यादि विधाओं में वर्तमान दौर में क्या उल्लेखनीय कार्य हो रहा है और समकालीनता की कौन सी छापें उन पर पड़ रही हैं, इसका विस्तृत आकलन कर रहा है। यह शास्त्रीय और लोक रूपों दोनों के प्रति संवेदनशील है। जो क्लासिक्स हैं उनका पुनर्पाठ या कहें तो पुनर्मूल्यांकन भी विश्लेषणीय दृष्टि से प्रस्तुत करना इसकी एक बड़ी विशेषता है। यह एक ऐसा सांस्कृतिक कोष है कि जिसे खंगालने पर समृद्ध सांस्कृतिक प्रतिबिंब दिखाई देते हैं। पिछले अंक में रंगमंच पर प्रस्तुत विभिन्न आलेखों में भिन्न-भिन्न रूपों और विचारों का आस्वाद मिला। भारतीय रंगमंच में क्रांतिकारी परिवर्तन करने वाले और रंग आंदोलनकारी नाटककार बादल सरकार के निधन पर बहुमूल्य सामग्री पेश की गई। कविता के रंगमंच पर भी एक संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण आलेख है। जो कविता और रंगमंच का अंतर्संबंध प्रकट करता है और कविताओं के मंचन का इतिहास भी प्रस्तुत करता है। अंधायुग की पुनर्विवेचना एक पठनीय दस्तावेज है। विभिन्न निर्देशकों की प्रस्तुतियों का ब्यौरा देकर 'अंधायुग' की सर्वकालिक प्रसिद्धि और सामयिकता पर प्रकाश डाला। **-हेमंत देवलेकर,** भोपाल

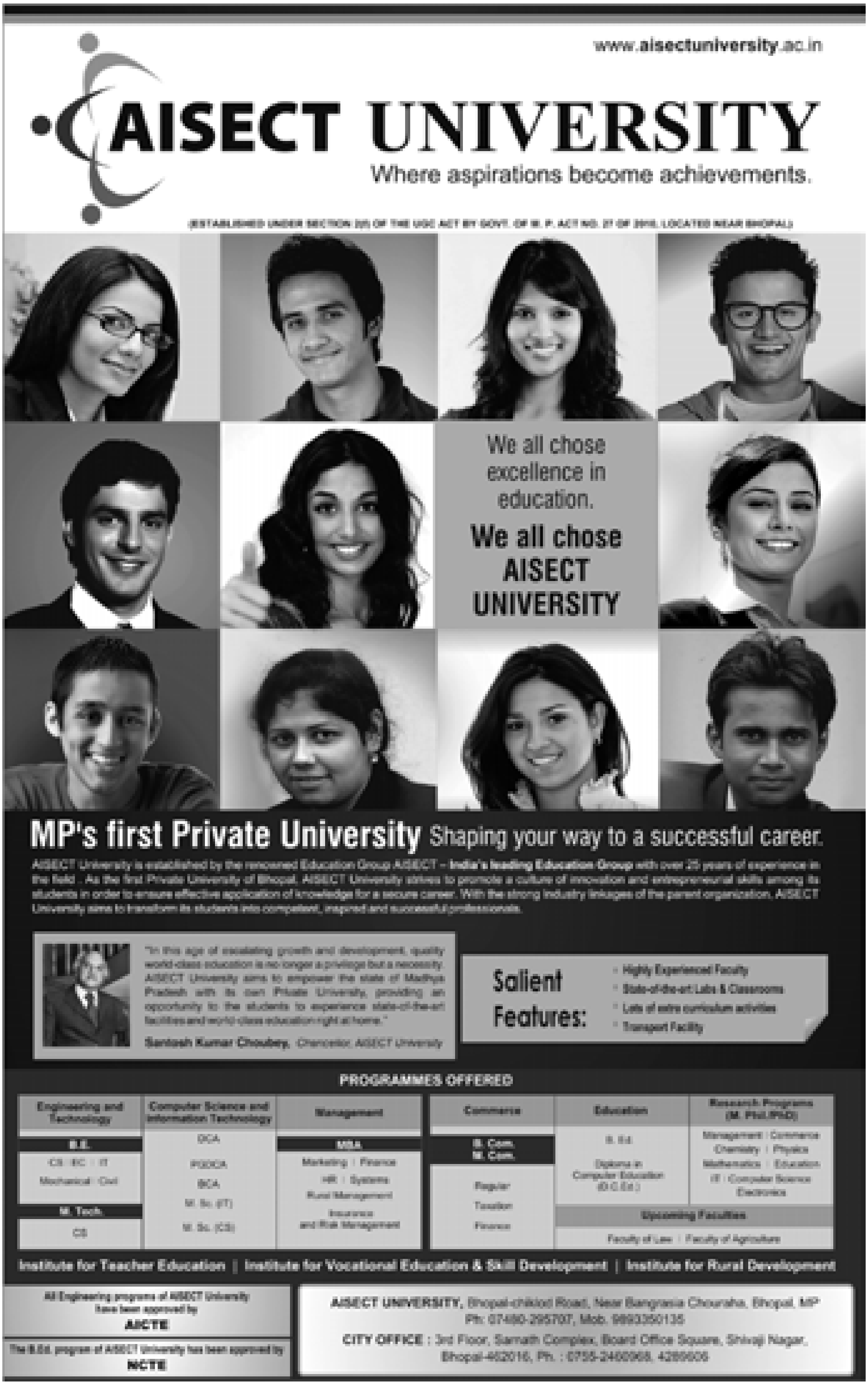

www.aisectuniversity.ac.in
AISECT UNIVERSITY
Where aspirations become achievements.
We all chose excellence in education.
We all chose AISECT UNIVERSITY
MP's first Private University Shaping your way to a successful career.
AISECT University is established by the renowned Education Group AISECT – India's leading Education Group with over 25 years of experience in the field. As the first Private University of Bhopal, AISECT University strives to promote a culture of innovation and entrepreneurial skills among its students in order to ensure effective application of knowledge for a secure career. With the strong industry linkages of the parent organization, AISECT University aims to transform its students into competent, inspired and successful professionals.
"In this age of escalating growth and development, quality world-class education is no longer a privilege but a necessity. AISECT University aims to empower the state of Madhya Pradesh with its own Private University, providing an opportunity to the students to experience state-of-the-art facilities and world-class education right at home."
Santosh Kumar Choubey, Chancellor, AISECT University
Salient Features:
Highly Experienced Faculty
State-of-the-art Labs & Classrooms
Lots of extra curriculum activities
Transport Facility
PROGRAMMES OFFERED
Engineering and Technology
B.E.
CS : EC : IT
Mechanical : Civil
M. Tech.
CS
Computer Science and Information Technology
DCA
PGDCA
BCA
M. Sc. (IT)
M. Sc. (CS)
Management
MBA
Marketing : Finance
HR : Systems
Rural Management
Insurance and Risk Management
Commerce
B. Com.
M. Com.
Regular
Taxation
Finance
Education
B. Ed.
Diploma in Computer Education (D.C.Ed.)
Research Programs (M. Phil./PhD)
Management : Commerce
Chemistry : Physics
Mathematics : Education
IT : Computer Science
Electronics
Upcoming Faculties
Faculty of Law : Faculty of Agriculture
Institute for Teacher Education | Institute for Vocational Education & Skill Development | Institute for Rural Development
All Engineering programs of AISECT University have been approved by AICTE
The B.Ed. program of AISECT University has been approved by NCTE
AISECT UNIVERSITY, Bhopal-chiklod Road, Near Bangrasia Chouraha, Bhopal, MP
CITY OFFICE : 3rd Floor, Sarnath Complex, Board Office Square, Shivaji Nagar, Bhopal-462016